नागरीप्रचारिणी पत्रिका

भारतेंदु जन्मशती अंक

संवत् २००७

संपादक

कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख स्वीकार्य होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है; और उनकी प्रकाशनसंबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का ५)

विषय-सूची

सेवक गुनीजन के चाकर चतुर के हैं कविन के मीत चित हित गुन गानी के।
सीधेन सों सीधे महा बाँके हम बाँकेन सों 'हरीचंद' नगद दमाद अभिमानी के॥
चाहिबे की चाह काहू की न परवाह नेही नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के।
सरबस रसिक के सुदासदास प्रेमिन के सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के॥

कह सकता है कौन कि कितना काम किया है;
देश का सर्वस्व [illegible] दान किया है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५५] संवत् २००७ [अंक १-२

भारतेंदु का संक्षिप्त जीवनवृत्त एवं साहित्य

[श्री व्रजरत्नदास]

वैश्य-अग्रकुल में प्रगट, बालकृष्ण कुलपाल।
ता सुत गिरिधर-चरन रत, वर गिरिधारीलाल॥
अमीचंद तिनके तनय, फतेचंद ता नंद।
हरषचंद जिनके भए, निज कुल सागरचंद॥
श्रीगिरिधर गुरु सेइ कै, घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब, हरिपद भक्ति दढ़ाइ॥
तिनके सुत गोपाल ससि, प्रगटित गिरिधरदास।
कठिन करम गति मेटि जिन, कीनी भक्ति प्रकास॥
पारबती की कोख सों, तिनसों प्रगट अमंद।
गोकुलचंद्राग्रज भयो, भक्त-दास हरिचंद॥

स्वरचित उत्तरार्ध भक्तमाल में स्वयं भारतेंदु जी ने अपना वंश-परिचय उपयुक्त प्रकार से दिया है। उक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि भारतेंदु जी के पूर्वजों में राय बालकृष्ण तक का ही ठीक पता चलता है। यह परिवार पहले दिल्ली से राजमहल चला आया और फिर वहाँ से मुर्शिदाबाद गया। जब ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रभुत्व बंगाल में हुआ और कलकत्ता उनकी राजधानी बना तब अमीचंद वहीं आ बसे। इन्होंने बंगाल के नवाब के विरुद्ध कंपनी की अनेक प्रकार से सहायता की, पर अंत में उसके पुरस्कार स्वरूप इन्हें कुछ नहीं मिला, प्रत्युत उस राज्यविप्लव में इनकी बहुत हानि हुई। इससे ये ऐसे दुःखी हुए कि कुछ ही दिनों बाद सं० १८१५ वि० में (५ दिसंबर सन् १७५८ ई० को) इनकी मृत्यु हो गई।

अमीचंद के एक पुत्र फतेहचंद पिता की मृत्यु के अनंतर १८१६ वि० (सन् १७५९ ई०) में काशी चले आए और यहीं बस गए। इस परिवार का पुराना मकान जो अब भारतेंदु-भवन कहलाता है, इन्हीं ने १८४६ वि० (सन् १७८९ ई०) में क्रय किया था। सं० १८६७ (सन् १८१० ई०) के लगभग इनकी मृत्यु हुई। इनके पुत्र हर्षचंद नगर में इतने प्रसिद्ध हुए कि इनकी कोठी काले हर्षचंद के नाम से अब तक पुकारी जाती है। इन्हीं के पुत्र श्रीगोपालचंद्र उपनाम गिरिधरदास हुए। ये हिंदी के प्रसिद्ध सुकवि हो गए हैं, जिन्होंने चालीस ग्रंथों की रचना की है। संस्कृत के भी ये अच्छे कवि थे। इनका जन्म पौष कृष्ण १५, सं० १८९० को हुआ था और मृत्यु वैशाख शुक्ला ७, सं० १९१७ को हुई। केवल २६ वर्ष कुछ महीनों की इस अल्प आयु में ही इन्होंने इतनी रचनाएँ कर डाली थीं, इससे स्पष्ट है कि ये आशु तथा जन्मसिद्ध कवि थे। इनके दो पुत्र भारतेंदु श्रीहरिश्चंद्र तथा श्रीगोकुलचंद्र हुए।

भारतेंदु का जन्म भाद्रपद शुक्ला ५। (ऋषि पंचमी) सं० १९०७ (९ सितंबर सन् १८५० ई०) को सोमवार के दिन काशी में हुआ था। इस जन्म-दिवस के संबंध में कुछ मतभेद अब तक चल रहा है। इस भ्रम का मुख्य कारण यह है कि भारतेंदु जी के फुफेरे भाई स्वर्गीय श्रीराधाकृष्णदास ने स्वलिखित भारतेंदुजी की जीवनी में इनका जन्म-दिन भाद्रपद शुक्ला सप्तमी (ऋषि सप्तमी) सं० १९०७, ९ दिसंबर सन् १८५० ई० लिख दिया है। इसमें दो दो अशुद्धियाँ किस प्रकार आ गई, यह नहीं कहा जा सकता। पंचमी के स्थान पर सप्तमी तथा सितंबर के स्थान पर दिसंबर छप गया है। भारतेंदु जी की दूसरी जीवनी के लेखक ने एक अशुद्धि, महीने की, दूर कर दी है पर दूसरी ज्यों की त्यों रहने दी।

उक्त जन्म-तिथि में अंग्रेजी तारीख ९ सितंबर, सोमवार, सन् १९५० ई० निश्चित रूप से शुद्ध है। यही तारीख भारतेंदु जी के परम मित्र पं० रामशंकर व्यास ने भारतेंदु जी के अंग्रेजी में लिखे उस परिचय में दिया है जो खड्गविलास प्रेस द्वारा सन् १८९२ ई० में प्रकाशित 'इतिहास समुच्चय' में छपा है। भारतेंदु जी की मृत्यु पर जो शोक-संग्रह छपा था उसमें भी उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है और यही तारीख जन्म की दी गई है। 'उचित वक्ता' (जनवरी सन् १८८५ ई०) में भी जन्म की यही तारीख दी हुई है। भारतेंदु जी की अवस्था चौंतीस वर्ष तीन मास सत्ताईस दिन की थी और इनकी मृत्यु ६ जनवरी सन् १८८५ ई० को हुई। इससे भी जोड़ने से वही तारीख आती है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने यूरोपीय रीति से इनकी एक जन्मपत्री बनाई थी, जो मेडिकल हॉल प्रेस से सन् १८८४ ई० में छपी थी।

भारतेंदु के पिता
श्री गोपालचंद्र (गिरिधरदास)

भारतेंदु (युवावस्था)

३·५·८३·

अनेक कोटि साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणामानन्तर निवेदनमिति

[illegible]

भारतेंदु का देवनागरी हस्ताक्षर

इसमें लिखा है—'सन् १८५० सेप्टेंबर की नवीं तारीख सोमवार को आधी रात के अनंतर ४ घंटा ३७ मिनट १२ सेकंड पर काशी में श्रीमान् बा० हरिश्चंद्र का जन्म हुआ।' इस प्रकार जन्म की अंग्रेजी तारीख निश्चित है।

मद्रास सरकार की ओर से प्रकाशित सात शताब्दियों के बृहत् पंचांग 'एफिमिरिस' से मिलान करने पर ज्ञात हुआ कि ६ सितंबर सन् १८५० ई० सोमवार को भाद्रपद शुक्ल ४ सं० १९०७ था। 'सेंचुरी कैलेंडर' तथा सं० १९०७ के एक पत्रे को देखने से ज्ञात हुआ कि उस दिन चतुर्थी होते भी पंचमी का मान हुआ था। भारतेंदुजी ने 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' लिखना आरंभ किया था। उसका केवल प्रथम परिच्छेद अब प्राप्त है। उसमें वे लिखते हैं कि 'मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोनों में बड़ा पवित्र दिन है। सं० १९३० में मैं जब तेईस वर्ष का था।' भाद्रपद मास में ऋषि पंचमी ही एक ऐसा पर्व है जो जैन तथा वैदिक दोनों में पवित्र माना जाता है। ऋषि सप्तमी वास्तव में कोई पर्व-दिन नहीं है। ऋषि पंचमी ही को सप्तर्षि का पूजन होता है। उक्त विचारों से यह निश्चित है कि ऋषि पंचमी ही इनका जन्मदिन है।

भारतेंदु जी जब पाँच वर्ष के थे तभी इनकी माता का और जब ये नौ वर्ष के थे तब इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। इसी बीच इतनी अल्पावस्था ही में इन्होंने अपनी चंचल प्रतिभा से अपने पिता जैसे श्रेष्ठ कवि को विस्मित कर दिया था। 'बलराम कथामृत' की रचना के समय एक बार ये अपने पिता जी के पास जा बैठे और बड़े आग्रह के साथ स्वयं कविता बनाने की आज्ञा माँगने लगे। पिता की आज्ञा मिलने पर कथा के अनुकूल इन्होंने निम्नलिखित दोहा बनाकर सुनाया—

लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए, श्रीअनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सैन को, हनन लगे भगवान॥

बाबू गोपालचंद्र ने पुत्र का उत्साह बढ़ाने के लिये इस दोहे को अपने ग्रंथ में स्थान दिया और कहा कि 'तू मेरे नाम को बढ़ावेगा।' इसी प्रकार एक दिन 'कच्छप कथामृत' के एक सोरठे की व्याख्या हो रही थी कि भारतेंदु जी भी वहीं आगए और व्याख्या सुनते हुए एकाएक बोल उठे 'बाबू जी हम अर्थ बतलाते हैं। आप बा भगवान का जस वर्णन करना चाहते हैं जिसको कछुक छुआ है अर्थात् जान लिया है।' इस नई उक्ति को सुनकर सभी चमत्कृत हो उठे। उक्त सोरठे की प्रथम पंक्ति इस प्रकार है—

करन चहत जस चारु कछु कछुवा भगवान को।

एक बार अपने पिता को तर्पण करते हुए देखकर भारतेंदु जी ने उनसे पूछा कि 'बाबू जी, पानी में पानी डालने से क्या लाभ ?' धार्मिकप्रवर बाबू गोपालचंद्र ने सिर ठोंका और कहा—'जान पड़ता है कि तू कुल बोरेगा'। बाल्यकाल की साधारण जिज्ञासु प्रकृति का यह एक साधारण प्रश्न था और इनकी यह अनुसंधान-कारिणी बुद्धि सदा इनके जीवन भर विकसित होती गई।

इनका मुंडन संस्कार पहले ही वर्ष में हो गया, तीसरे वर्ष में कंठी दी गई और जब ये नौ वर्ष के हुए तब इनका यज्ञोपवीत हुआ। इसके उपलक्ष में महफिल और जेवनार होने को थी कि उसी अवसर पर इनके पिता की मृत्यु हो गई और सब मिठाई दीन-दुखियों को बाँट दी गई। जब ये तेरह वर्ष के हुए तभी इनका विवाह हो गया।

भारतेंदु जी की शिक्षा का आरंभ पहले गृह पर ही हुआ और कुछ हिंदी, उर्दू तथा अंग्रेजी पढ़कर ये क्वीन्स कालेज के वार्ड्स स्कूल में भर्ती हुए। ये प्रकृत्या स्वतंत्रताप्रिय थे और माता पिता दोनों की मृत्यु हो जाने से और भी स्वच्छंद हो गए। इस कारण इनका शिक्षाक्रम विशेष नहीं चला। पढ़ने में मन न लगाने पर भी तीव्र मेधाशक्ति के कारण इन्होंने जो भी परीक्षाएँ दीं, सब में उत्तीर्ण हो गए। तीन चार वर्ष स्कूल में पढ़कर उसे त्याग दिया। बाल्यकाल ही से ये पान के प्रेमी थे, परंतु स्कूल में पान खाना वर्जित था इस कारण ये रामकटोरा तालाब में मुँह साफ करके स्कूल जाते थे। छात्रावस्था से ही कविता बनाने का इन्हें शौक था। ये बीस-बाईस भाषाएँ जानते थे और किस प्रकार इन भाषाओं का ज्ञान इन्होंने अर्जित किया था उसका नमूना उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है 'ग्यारह वर्ष की अवस्था में हम जगन्नाथ जी गए थे। मार्ग में वर्द्धमान में विधवा-विवाह नाटक बंग में मोल लिया, सो अटकल से ही उसको पढ़ लिया।' इनमें ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा थी तथा इनकी बुद्धि अत्यंत कुशाग्र एवं स्मरण-शक्ति अद्भुत थी। इसी से ये इतनी शीघ्रता से ज्ञानार्जन कर सके और उसे जनसाधारण को अपनी रचनाओं द्वारा दे सके।

ये यात्रा करने के भी बड़े प्रेमी थे और बाल्यकाल से अंत तक यह प्रेम बना रहा। अवसर मिलते ही ये पर्यटन के लिये निकल पड़ते थे। इन्होंने इन यात्राओं का वर्णन अत्यंत सजीव तथा विनोदपूर्ण भाषा में किया है। जगन्नाथ जी की यात्रा में दर्शन करते समय सिंहासन पर भोग लगाते हुए भैरव मूर्ति का बैठाया जाना

देखकर भारतेंदु जी ने उसे अप्रामाणिक सिद्ध किया और अंत में वहाँ से उस मूर्ति को हटवाकर ही छोड़ा। इसपर किसी ने 'तहक़ीक़ात पुरी' लिखा, जिसके उत्तर में इन्होंने 'तहक़ीक़ात पुरी की तहक़ीक़ात' लिख डाला।

भारतेंदु जी कद के कुछ लंबे तथा शरीर के एकहरे थे, न अधिक कृश और न मोटे। आँखें बहुत बड़ी न थी और कुछ धँसी हुई सी थीं। नाक बहुत सुडौल थी। घुँघराली लटें कानों पर लटकती रहती थीं। ऊँचा ललाट भाग्य का द्योतक था। इनका रंग साँवलापन लिए था और शरीर की कुल बनावट सुडौल थी। इनके शारीरिक तथा मानसिक सौंदर्य का इनसे मिलनेवालों पर अच्छा प्रभाव पड़ता था। उस समय लोग इन्हें 'कलियुग के कँधैया' कहा करते थे। साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्त व्यास ने 'विहारी-विहार' में लिखा है कि 'दूर से लोग इनकी मधुर कविता सुन आकृष्ट होते थे और समीप आ मधुर श्यामसुंदर घुँघराले बालवाली मधुर मूर्ति देखकर बलिहारी होते थे और वार्तालाप में इनके मधुर भाषण, नम्रता और शिष्ट व्यवहार से वशंवद हो जाते थे।'

भारतेंदु जी के शील, सौजन्य तथा उदारता की अनेक कथाएँ हैं, पर इन्हें इसका कभी घमंड नहीं हुआ। ये स्वभावतः कोमलहृदय तथा पर-दुःख-कातर थे। कहीं भी बाढ़ या अकाल से लोगों को कष्ट हुआ कि इन्होंने स्वयं यथाशक्ति सहायता की तथा घूम-घूमकर चंदा एकत्र कर भेजवाया। रास्ते चलते किसी को जाड़े में ठिठुरते हुए देखा तो अपना दुशाला ही ओढ़ा दिया। इन्होंने अपने वित्त से बढ़कर गुणियों, कलाविदों, विद्वानों तथा सुकवियों का आदर-सत्कार किया। दीन-दुखियों के दुःख दूर किए और कितने ही लोगों की सहायता कर उन्हें व्यवसाय में लगा दिया। यह सब करते हुए भी इन्हें कभी अपनी दातव्यता, अमीरी, कवित्व-शक्ति आदि पर अहंकार नहीं हुआ। ये स्वभावतः नम्र प्रकृति के थे, पर दूसरे के अभिमान दिखलाने पर ये उसे सहन नहीं कर सकते थे। इनके एक कवित्त से इनके स्वभाव, भक्ति आदि पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। कहते हैं—

सेवक गुनीजन के चाकर चतुर के हैं
कविन के मीत चित हित गुन गानी के।
सीधेन सों सीधे महा बांके हम बांकेन सों
'हरीचंद' नगद दमाद अभिमानी के॥

चाहिबे की चाह काहू की न परवाह, नेही
नेह के, दिवाने सदा सूरत निवानी के।
सरबस रसिक के, सुदासदास प्रेमिन के
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के॥

इन्हें अपने इष्टदेव पर इतनी अटूट श्रद्धा तथा इतना अटल विश्वास था कि ये सांसारिक सुख-ऐश्वर्य के लिये किसी का मुखापेक्षी होना उचित नहीं समझते थे। उदयापुराधीश महाराणा सज्जनसिंह के दरबार में एक समस्या की पूर्ति करते हुए कहते हैं—

राधाश्याम सेवैं सदा बृंदावन बास करैं
रहैं निहचिंत पद आस गुरुवर के।
चाहैं धन धाम ना आराम से है काम
हरिचंद जू भरोसे रहैं नंदराय घर के॥
एरे नीच धनी हमैं तेज तू दिखावै कहा
गज परवाही नाहिं होहिं कबौं खर के।
होइ लै रसाल तू भलेई जग जीव काज
आसी ना तिहारे ये निवासी कल्पतरु के॥

भारतेंदु जी अत्यंत सत्यप्रिय थे और इस व्रत को उन्होंने आजन्म निबाहा। वे भली भाँति जानते थे कि 'सत्यधर्म पालन हँसी खेल नहीं है', फिर भी कहते हैं—

चंद्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥

यद्यपि इस व्रत के कारण उन्हें बहुत कुछ हानि उठानी पड़ी, किंतु उन्होंने इस मार्ग को नहीं छोड़ा। ये बड़े विनोदप्रिय थे और सदा प्रसन्नचित्त रहते थे। सांसारिक कष्टों के कारण कभी कभी उदास अवश्य हो जाते थे पर वह दशा टिकती नहीं थी। अंग्रेजों में पहली अप्रैल का दिन '.फूल्स डे' (मूर्खों का दिन) माना जाता है और इस दिन दूसरों को मूर्ख बनाने का प्रयत्न किया जाता है। भारतेंदु जी ने कई वर्ष ऐसे सफल प्रयत्न किए और लोगों को खूब छकाया। सूचना निकाली कि एक विलायती विद्वान् सूर्य और चंद्र को पृथ्वी पर बुलाकर दिखाएँगे। दूसरी बार एक मेम के खड़ाऊँ पहिनकर गंगा पार करने की और तीसरी बार एक प्रसिद्ध गवैए के गान की सूचना

निकाली। पर निश्चित समय और स्थान पर जब लोग एकत्र हुए तब कुछ न देख हँसते हुए घर लौट गए।

भारतेंदु जी ने समाज के सुधार में भी विशेष प्रयत्न किया था। बाल्यविवाह, बहुविवाह (कुलीन प्रथा) आदि को दूर करने का तथा स्त्री-शिक्षा, विलायत-यात्रा आदि का समर्थन बराबर करते रहे। इनका कहना था कि 'ये सब वो समाज-धर्म हैं जो देशकाल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं। बहुत सी बातें जो समाज-विरुद्ध मानी हैं किंतु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए, जैसे जहाज का सफर, विधवा-विवाह आदि।' स्त्री-शिक्षा के संबंध में वे कहते हैं 'ऐसी चाल से उन्हें शिक्षा दीजिए कि वे अपना देश और कुल धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज शिक्षा दें।' अन्य बातों पर इस प्रकार कहा है—

रोकि विलायत गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छोड़ाइ प्रचार घटायो॥
बहु देवी देवतान भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब बिमुख किए हिंदुन घबराई॥

भारतेंदु जी ने पाश्चात्य शिक्षा का अभाव तथा उसकी आवश्यकता समझकर अपने ही गृह पर एक पाठशाला खोली और स्वयं शिक्षा देने लगे। विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने पर सं० १९२४ में उन्होंने दूसरे गृह में 'चौखंभा स्कूल' खोल दिया और अध्यापक नियत किए। उसमें दीन बालकों को विशेष सहायता दी जाती थी। इसी स्कूल का सं० १९४२ (सन् १८८५ ई०) में राजा शिवप्रसाद के प्रस्ताव तथा तत्कालीन कलेक्टर के अनुमोदन पर 'हरिश्चंद्र स्कूल' नाम रखा गया। कुछ दिनों तक इस स्कूल की दशा अच्छी नहीं रही, पर क्रमशः इसका निज का भवन बन गया और यह उन्नति करता हुआ अब डिगरी कालेज हो गया है, जिसमें प्रायः डेढ़ सहस्र लड़के शिक्षा प्राप्त करते हैं। भारतेंदुजी अन्य स्कूलों, कालेजों आदि के विद्यार्थियों को उच्च श्रेणी में परीक्षा उत्तीर्ण करने पर पारितोषिक दिया करते थे तथा बालिकाओं को केवल परीक्षोत्तीर्ण होने पर साड़ियाँ वितरण करते थे।

भारतेंदुजी उक्त स्कूल के खोलने के बाद ही से मातृभाषा की सेवा में दत्तचित्त हो गए। हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं का प्रायः अभाव देखकर उन्होंने 'कविवचनसुधा', 'हरिश्चंद्र मैगजीन' और 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'बालाबोधिनी' तथा 'नवोदिता हरिश्चंद्र चंद्रिका'—इन पत्रिकाओं को क्रमशः स्वयं अपने व्यय से निकाला और दूसरों को

सहायता देकर अनेक पत्र प्रकाशित कराए। उन्हें इन पत्रों से हानि ही उठानी पड़ी, पर वे बहुत दिनों तक इन्हें चलाते रहे। हिंदी में अनेक विषयों पर पुस्तकों का अभाव देखकर इन्होंने समयानुकूल अनेक विषयों पर बहुत सी रचनाएँ कीं तथा उन्हें स्वयं प्रकाशित कर बिना मूल्य वितरण करना आरंभ कर दिया। अन्य लोगों को प्रोत्साहन देकर बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित कराईं तथा अनेक प्राचीन काव्य-ग्रंथ भी छपवाकर बाँटे थे।

भारतेंदुजी ने सं० १९२७ में 'कवितावर्द्धिनी सभा' स्थापित की, जो इनके घर पर या रामकटोरा बाग में हुआ करती थी। कविसमाज और मुशायरा भी होता था और उस समय के प्रायः सभी कविगण एकत्र हुआ करते थे। सरदार, सेवक, दीनदयाल गिरि, नारायण, हनुमान आदि बराबर उस सभा में आया करते थे। इस सभा से कवियों को प्रशंसापत्र भी दिया जाता था। सं० १९३० वि० में स्थापित 'पेनी रीडिंग क्लब' में सुलेखकों के लेख पढ़े जाते थे। गायन-वादन भी होता और स्वाँग भी रचे जाते थे। 'भ्रांत पथिक' तथा 'चूसा पैगंबर' का स्वाँग स्वयं भारतेंदुजी बने थे।

इसी वर्ष 'तदीय समाज' भी स्थापित हुआ, जिसका उद्देश्य धर्म तथा भक्ति था। इसी समाज से गोवध रोकने के लिये साठ सहस्र हस्ताक्षरों के साथ एक प्रार्थनापत्र दिल्ली दरबार के अवसर पर भेजा गया था। गो-महिमा आदि अनेक लेख लिखकर यह आंदोलन बराबर जारी रखा गया था। इस समाज से मदिरा-मांस न सेवन करने तथा स्वदेशी वस्तु ही व्यवहार में लाने की प्रतिज्ञा कराने की छोटी छोटी बही सी पुस्तकें छापकर लोगों में बाँटी जाती थीं और साक्षियों के सामने प्रतिज्ञा कराई जाती थी। प्रति बुधवार को इसका अधिवेशन होता था और गीता, भागवत आदि के पाठ होते थे। भारतेंदुजी ने 'तदीय नामांकित अनन्य वीर वैष्णव' की पदवी स्वयं ग्रहण की थी।

इन सभा-समाजों के सिवा 'यंगमैंस असोसिएशन' और 'डिबेटिंग क्लब' भी स्थापित किए थे पर वे सभासदों के उत्साह की कमी से विशेष कार्य न कर सके। बनारस इंस्टिट्यूट, ब्रह्मामृतवर्षिणी, काशिराज की धर्मसभा आदि के भी ये प्रमुख सहायक रहे। होमियोपैथी की चिकित्सा आरंभ होने पर इन्होंने एक दातव्य चिकित्सालय खोला, जिसके व्यय के लिये ये दस रुपए मासिक सहायता कई वर्षों तक देते रहे। स्व० सुरेंद्रनाथ बनर्जी के 'नैशनल फंड' में सहायता दी और इनके

'तदीय नामांकित-
अनन्य वीर वैष्णव'
भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारतेंदु (प्रौढ़ावस्था)

काशी आने पर उनका सत्कार भी किया था। जब श्री ईश्वरचंद्र विद्यासागर काशी आए थे तब वे भारतेंदुजी से मिले थे और इन्होंने भी पुस्तकें भेंट देकर उनका सम्मान किया था। वे अपनी शकुंतला की भूमिका में लिखते हैं कि 'हमको अभिज्ञान शाकुंतल की आवश्यकता थी, यह बात जानते ही इस सौम्य मूर्ति, अमायिक, निरहंकार विद्योत्साही देशहितैषी ने जिस स्नेह और उत्साह के साथ हमारे हाथ में पुस्तक अर्पण की थी, उसे क्या हम किसी काल में भूल सकते हैं।'

सं० १९२७ ई० में भारतेंदु जी तथा उनके अनुज में पैतृक संपत्ति का बँटवारा हो गया और ये अपना भाग लेकर अलग हो गए। इनके नानिहाल की भी चल तथा अचल संपत्ति में इनका आधा भाग था, पर उसमें दो वसीयतनामे तथा एक बख्शिशनामा लिखकर इनकी मातामही ने इन्हें प्रायः कुछ भी भाग नहीं दिया। इसी वर्ष सं० १९२७ में अवैतनिक मैजिस्ट्रेट बनाने का विधान बना और काशी के दस सज्जन इस पद पर नियत हुए। इनमें भारतेंदु जी सबसे छोटी अवस्था के थे। कुछ दिन बाद ये म्युनिसिपल कमिश्नर भी नियत हुए और राजकर्मचारियों में भी इनका मान होने लगा। इनकी प्रकाशित पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की सौ सौ प्रतियाँ सरकार द्वारा ली जाने लगीं। सहज ईर्ष्यालु महापुरुषों ने ऐसे अल्पवयस्क की यह बढ़ती देखकर हाकिमों से इनकी चुगली खाई और इनके लेखों का मनभाना अर्थ बतलाकर उन्हें भड़का दिया। सरकार ने इनकी पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ लेना बंद कर दिया। इसपर इन्होंने भी आनरेरी मैजिस्ट्रेटी आदि सभी सरकारी कामों को त्याग दिया और देश-सेवा तथा हिंदी की उन्नति में दत्तचित्त हो गए। राजभक्ति इनको सदा बनी रही और वह इनकी देशभक्ति के साथ मिली-जुली सदा चलती रही।

भारतेंदुजी का सम्मान भारत के राजा-महाराजा, जनता तथा सरकार के उच्च पदाधिकारी बराबर करते रहे। काश्मीर-नरेश महाराज रणवीर सिंह, ग्वालियर के अधिपति महाराज जयाजीराव सींधिया तथा रीवाँ के अधीश्वर महाराज रघुराजसिंह जब काशी पधारे थे तब इन्हें बुलाकर भेंट और सत्कार किया था। जोधपुर-नरेश भी जब काशी आए थे तब इन्हें स्टेशन पर बुलाकर सम्मानित किया था। काशिराज महाराज ईश्वरीनारायण सिंह का तो इनपर पुत्रवत् स्नेह था। उदयपुराधीश महाराणा सज्जनसिंह की इनपर सदा कृपादृष्टि बनी रही और एक बार उन्होंने यहाँ तक लिख भेजा था कि 'बाबू हरिश्चंद्रजी इस राज्य को अपनी सीर समझें।' विजयनगरम् के महाराज ने इनके गृह पर आकर इनका सम्मान किया था। राजा

वेंकटगिरि तथा छत्रपुर-नरेश इनके गृह पर आकर इनसे मिला करते थे। भूपाल की बेगम नवाब शाहजहाँ बेगम इनसे पत्रव्यवहार रखती थीं और स्वयं 'रूपरतन' उपनाम से हिंदी में कविता करती थीं। वाइसराय लार्ड लिटन सं० १९३४ में काशी पधारे थे और इन्हें स्वयं बुलाकर इनसे बहुत देर तक बातचीत की थी। प्रिंस ऑव वेल्स के भारत में आगमन के उपलक्ष में इन्हें भी एक पदक प्रदान किया गया था। भारतीय तथा यूरोपीय विद्वत्समाज इन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखता था। ये भारत के 'पोएट लॉरिएट' (राजकवि) कहे जाते थे और सर्वसम्मति से इन्हें 'भारतेंदु' की पदवी दी गई थी, जो इनका एक नाम ही हो गया है।

भारतेंदुजी सारे सांसारिक माया-मोह तथा झंझटों से दूर रहकर सदा स्वदेश और मातृभाषा की सेवा में निरत रहते थे। अर्थ-संचय के प्रति इनकी साधुवृत्ति थी और कल की चिंता मन में न लाते थे। बँटवारा हो जाने के अनंतर उस ओर दृष्टि न रखने से वह शीघ्र नष्ट हो गया, जिससे इन्हें अर्थ-कष्ट रहने लगा। भारत-सरकार की कोपदृष्टि भी इसी समय पड़ी जिससे मातृभाषा की सेवा में बाधा पड़ने लगी। इन सबसे इन्हें जो आत्म-क्षोभ हुआ उसका उल्लेख इनकी तत्कालीन रचनाओं में मिलता है। 'सत्यहरिश्चंद्र में सूत्रधार से कहलाया है'—'हा, प्यारे हरिश्चंद्र का संसार ने कुछ भी गुण-रूप न समझा। क्या हुआ? 'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचंद्र की कहानी रहि जायगी।' परंतु ऐसे विनोदी कवि-हृदय में यह आत्मक्षोभ अधिक समय तक न टिक सका। वे शीघ्र ही सँभल गए और पुनः अनन्य प्रेमभक्ति में मग्न हो गए। वे कहते हैं—

परम प्रेमनिधि रसिक बर, अति उदार गुनखान।
जग जन-रंजन आशु कवि, को हरिचंद समान॥
जग जिन तृन सम करि तज्यो, अपने प्रेम प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव॥
चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत को नेम।
पै दृढ़ श्रीहरिचंद को, टरै न अविचल प्रेम॥

ऐसा होते हुए भी चिंताओं के कारण इनका शरीर जर्जर होता जा रहा था। ऐसे ही समय सं० १९३९ (सन् १८८२ ई०) में महाराणा सज्जनसिंह के आग्रह तथा श्री नाथजी के दर्शन की लालसा से उदयपुर गए। इतनी लंबी यात्रा के परिश्रम को वे नहीं सह सके और लौटने पर बहुत बीमार हो गए, पर अभी आयु शेष थी इससे

बच गए। अभी ये पूर्णतया स्वस्थ नहीं हुए थे कि शरीर की चिंता छोड़कर पढ़ने-लिखने में लग गए। श्वास, खाँसी आदि रोग इनके जीर्ण शरीर को छोड़ नहीं रहे थे, बीच बीच में उभड़ आते और फिर दब जाते थे। कभी कभी ज्वर भी आ जाता था, अतः शरीर कृशित होता जाता था। क्षय रोग के चिह्न स्पष्ट होने लगे। एकाएक दूसरी जनवरी सन् १८८५ ई० को बीमारी बढ़ गई और औषधियाँ निष्फल होने लगीं। छः तारीख को जब ऊपर से मजदूरनी हाल पूछने आई तब आपने कहा कि जाकर कह दे कि 'हमारे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित्य नया नया छप रहा है। पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खाँसी की सीन हो चुकी। देखें लास्ट नाइट कब होती है।' उसी दिन रोग का वेग बढ़ा और पौने दस बजे रात्रि में अंतकाल आ पहुँचा। अंत तक श्री राधाकृष्ण का ध्यान बना रहा। देहावसान के समय 'श्रीकृष्ण! राधाकृष्ण! आते हैं मुख दिखलाओ' कहा और कोई दोहा पढ़ा जिसमें से 'श्रीकृष्ण......सहित स्वामिनी' इतना धीमे स्वर में स्पष्ट सुनाई दिया। इसके अनंतर भारतेंदु सदा के लिये अस्त हो गए।

ऐसे लोकप्रिय देशहितैषी तथा मातृभाषाभक्त के लिये यथायोग्य शोक-प्रकाश किया गया। शोकप्रकाशक तारों तथा पत्रों का ढेर लग गया और कितनी ही कविताएँ, लेख और चरित्र छपे। इन सबका एक संग्रह शोकावली के नाम से बाद में प्रकाशित हुआ था। उस समय अन्य भारतीय भाषाओं के पत्रों ने भी हार्दिक शोकप्रकाश किया था। भारतेंदु जी का निधन माघ कृष्ण ६, सं० १९४१ (६ जनवरी, सन् १८८५ ई०) को हुआ था। एक छोटे चिट पर किसी अज्ञात कवि का एक करुणापूर्ण सवैया इसी शोक पर मिला है, जो नीचे दिया जाता है—

वह मूरति मोहिनी प्रेमभरी उपकार सने वह नैन कहाँ!
जिय खींचन को इक जंत्र मनो सुधा-साने सुहाने वे बैन कहाँ!
भए हाय सबै सपने से हमैं जो रहे अपने दिन रैन कहाँ!
अवलंबन है गुनगाथ अहो हरिचंद कथा बिन चैन कहाँ!

भारतेंदु जी के दो पुत्र तथा एक पुत्री हुई थी, पर पुत्र दोनों शैशवावस्था ही में जाते रहे। इनकी पुत्री श्रीमती विद्यावती भी अत्यंत दुर्बल थीं और सदा बीमार रहा करती थीं, परंतु उन्हें भारतेंदु जी की एकमात्र संतान कहलाने का सौभाग्य प्राप्त था इससे वे अच्छी हो गईं। इनकी शिक्षा का भी अच्छा प्रबंध हुआ था और हिंदी तथा बँगला अच्छी प्रकार जानती थीं। संस्कृत का इतना ज्ञान था कि श्रीमद्-

भागवत का पाठ कर लेती थीं। इनका विवाह सं० १९३७ के वैशाख में स्व० बाबू बुलाकीदासजी के भ्रातुष्पुत्र स्व० श्रीबलदेवदास जी से भारतेंदु जी ने स्वयं किया था। इनके पाँच पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ थीं। अंतिम तीनों अल्पावस्था ही में गत हो गईं। पुत्रों के नाम वयानुक्रम से व्रजरमणदास, व्रजरत्नदास, व्रजमोहनदास, व्रजजीवनदास तथा व्रजभूषणदास हैं जिनमें प्रथम तथा तृतीय का शरीरांत हो चुका है। श्रीमती विद्यावती का सं० १९५७ में अगहन बदी २ को और बाबू बलदेवदास का सं० १९४६ में चैत्र बदी २ को स्वर्गवास हो गया। भारतेंदु जी की धर्मपत्नी श्रीमती मन्नोदेवी का, बयालीस वर्ष तक वैधव्य भोग करने के अनंतर सं० १९८३ में आषाढ़ बदी ७ को गंगालाभ हुआ था।

भारतेंदु जी के छोटे भाई बाबू गोकुलचंद्र जी के दो पुत्र तथा दो पुत्रियाँ थीं। पुत्रों के नाम श्रीकृष्णचंद्र तथा श्रीव्रजचंद्र थे। प्रथम के तीन तथा द्वितीय के दो पुत्र वर्तमान हैं, जिनके नाम क्रमशः डा० मोतीचंद्र, बाबू लक्ष्मीचंद्र और बाबू नारायण-चंद्र तथा बाबू कुमुदचंद्र और बाबू मोहनचंद्र हैं।

भारतेंदु की रचनाएँ

भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र इस अनित्य लोक में केवल ३४ वर्ष ३ महीने सत्ताईस दिन रहे। उन्होंने प्रायः सत्रह-अठारह वर्ष की अवस्था से साहित्य-रचना आरंभ की और विविध प्रकार के अपने सभी कार्यों को करते हुए भी उन्होंने इतने अल्प काल में छोटी-बड़ी प्रायः दो सौ रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उनके रचनाकाल सहित उनकी सूची पाठकों के लाभार्थ विषयानुसार कई विभागों में यहाँ दी जाती है—

(१) नाटक

१—विद्यासुंदर—तीन अंकों का छोटा सा मौलिक नाटक। भारतेंदु के शब्दों में 'विशुद्ध हिंदी के नाटकों के इतिहास में चौथा' और खड़ी बोली का दूसरा नाटक। भाषा सरल। दस बारह पद भी इसमें हैं। रचनाकाल सं० १९२५।

२—रत्नावली—हिंदी में राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित "शकुंतला के अतिरिक्त कोई नाटक नहीं जिनको पढ़के कुछ चित्त को आनंद और इस भाषा का बल प्रगट हो। इस वास्ते मेरी इच्छा है कि दो चार नाटकों का तर्जुमा हिंदी में हो जाय तो मेरा मनोरथ सिद्ध हो।" इसी उद्देश्य के अनुसार संस्कृत से अनूदित, किंतु अपूर्ण। रचनाकाल सं० १९२५।

भारतेंदु का अंग्रेजी हस्ताक्षर
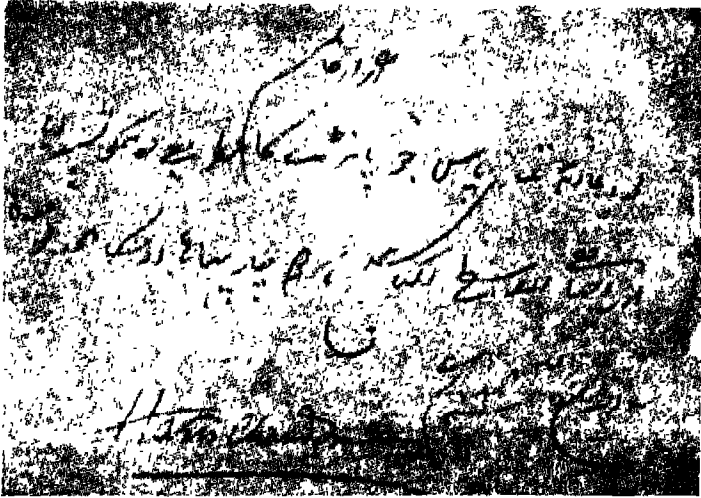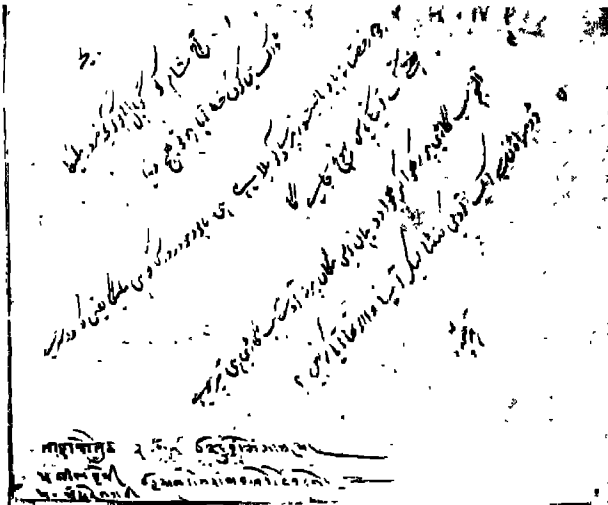
भारतेंदु का उर्दू हस्ताक्षर

३—पाखंडविडंबन—श्रीकृष्ण मिश्र कृत संस्कृत के प्रबोध-चंद्रोदय नाटक के तीसरे अंक का अनुवाद। इसमें दिखाया गया है कि लोग किस प्रकार सरल सात्विक श्रद्धा को छोड़ शांति और करुणा से रहित तामसी श्रद्धा से अभिभूत रहते हैं। र० का० सं० १९२९।

४—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—चार अंकों का मौलिक प्रहसन। पाखंडियों द्वारा मांस-मदिरादि-सेवन का शास्त्र के वचनों से समर्थन और अंत में उनकी दुर्दशा तथा अकृत्रिम भक्ति की महत्ता दिखाई गई है। र० का० सं० १९३०।

५—धनंजय विजय—संस्कृत से अनूदित। पांडवों के अज्ञातवास के अंतिम दिन अर्जुन द्वारा कौरवों का परास्त होना और पांडवों का प्रगट होना दिखाया गया है। र० का० सं० १९३०।

६—मुद्राराक्षस—विशाखदत्त कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद। चाणक्य तथा मगध के राजमंत्री राक्षस का कूटनीतिक द्वंद्व एवं अंत में चाणक्य द्वारा सफलतापूर्वक चंद्रगुप्त मौर्य का सम्राट् बनाया जाना। "परम श्रद्धास्पद श्रीयुक्त राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० के चरणकमलों में केवल उन्हीं के उत्साहदान से उनके वात्सल्य-भाजन छात्र द्वारा बना हुआ" और उन्हीं को "सादर समर्पित"। र० का० सं० १९३१-३२।

७—सत्यहरिश्चंद्र—मौलिक नाटक। सत्यप्रतिज्ञ महाराज हरिश्चंद्र के उपाख्यान का रूपक रूप में ओजस्वी वर्णन, सत्य का अत्यंत उपदेशप्रद विवरण। भारतेंदु के शब्दों में "सत्पथ पर चलनेवाले कितना कष्ट उठाते हैं यही इसमें दिखाया गया है।" र० का० सं० १९३२।

८—प्रेमयोगिनी—मौलिक, केवल चार गर्भांक, अपूर्ण। काशी की वास्तविक दशा का वर्णन, कुछ आप बीती लिए हुए। र० का० सं० १९३२।

९—विषस्य विषमौषधम्—मौलिक भाण। देशी राज्यों के अत्याचार तथा इस कारण उनके विलयन का सूत्रपात। र० का० सं० १९३३।

१०—कर्पूरमंजरी—राजशेखर कृत सट्टक का अनुवाद। शृंगार रस से पूर्ण एक प्रेमकहानी, हास्य-मिश्रित। र० का० सं० १९३३।

११—श्रीचंद्रावली—विरह के अनूठे पदों से युक्त, अनन्य प्रेम रस से प्लावित उत्कृष्ट नाटिका। भक्ति से पूर्ण सरस शैली में मधुर वर्णन। र० का० सं० १९३३।

१२—भारत दुर्दशा—भारत के प्राचीन गौरव तथा उसकी वर्तमान दुर्दशा के

कारणों का दिग्दर्शन एवं उसके उन्नयन के उपाय, राष्ट्रीयता, संपूर्ण भारत की एकता आदि का ओजपूर्ण वर्णन। र० का० सं० १९३३।

१३—भारत जननी—भारत की दुर्दशा का वर्णन। र० का० सं० १९३४।

१४—नीलदेवी—मौलिक ऐतिहासिक नाटक। मुसलमानों की रणनीति तथा धर्मांधता, क्षत्रियों की वीरता, अब्दुश्शरीफखाँ द्वारा सूर्यदेव के मारे जाने पर उनकी रानी नीलदेवी द्वारा 'शठं प्रति शाठ्यं' नीति का कुशल व्यवहार। 'आर्यजन का विश्वास है कि हमारे यहाँ सदा स्त्रियाँ हीन अवस्था में थीं'—इसी भ्रम को दूर करना उद्देश्य। र० का० सं० १९३७।

१५—दुर्लभबंधु—शेक्सपियर के नाटक 'मर्चेंट आव वेनिस' का बहुत सुंदर अनुवाद। पढ़ने में बिल्कुल मौलिक सा। र० का० सं० १९३७।

१६—अंधेरनगरी चौपट्ट राजा—प्रहसन। भारत की तत्कालीन दशा को लेकर हास्यपूर्ण व्यंग तथा आक्षेप किए गए हैं। राजनीतिक अंधेर दूर करना ही उद्देश्य। र० का० सं० १९३८।

१७—सती प्रताप—सावित्री-सत्यवान के उपाख्यान पर बना हुआ गीति रूपक। इसके चार दृश्य भारतेंदु जी ने लिखे थे और बचे अंश को श्रीराधाकृष्ण जी ने पूरा किया था। र० का० सं० १९४१।

१८—नाटक—परिशिष्ट रूप में नाट्यशास्त्र पर लिखा गया निबंध। नाट्य-कला के विकास तथा भारतीय और यूरोपीय नाटकों के इतिहास की संक्षिप्त विवेचना भी है।[1] र० क० सं० १९४०।

(२) काव्य

१—भक्त सर्वस्व—श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण के चरण-चिह्नों के भाव प्रायः चार सौ दोहों में वर्णित हैं। र० का० सं० १९२७।

२—प्रेममालिका—इसमें लीला, दैन्य तथा प्रेम के अनुभव से युक्त एक सौ कीर्तन के पद हैं। र० का० सं० १९२८।

१—काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित भारतेंदु-ग्रंथावली, प्रथम खंड में उक्त सब नाटक संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त नव-मल्लिका, मृच्छकटिक तथा प्रवास नाटकों के नाम मिलते हैं पर ये अपूर्ण तथा अप्रकाशित रह गए और अब अप्राप्य हैं।

३—कार्तिक स्नान—इसमें बीस दोहे तथा पचीस पदों में अनन्य भक्त ने श्रीराधाकृष्ण के, कार्तिक में स्नान-दान की लीला कही है। र० का० सं १९२९।

४—वैशाख माहात्म्य—तिरानबे दोहों में वैशाख में स्नान करने के माहात्म्य का वर्णन। र० का० सं० १९२९।

५—प्रेम सरोवर—इकतालीस दोहों में प्रेम की महिमा का वर्णन। र० का० सं० १९३०।

६—प्रेमाश्रुवर्षण—प्रेमपूर्ण छियालीस पदों का संग्रह। र० का० सं० १९३०।

७—जैन-कुतूहल—छत्तीस पदों में धार्मिक उदारता का दिग्दर्शन। र० का० सं० १९३०।

८—प्रेम-माधुरी—प्रेम-संबंधी एक सौ इकतीस कवित्त-सवैयों का संग्रह। र० का० सं० १९३२।

९—प्रेम-तरंग—इसमें एक सौ गेय पद हिंदी के, छियालीस बंगला पद 'चंद्रिका' के बनाए हुए और दो गजलें भारतेंदुजी की संगृहीत हैं। र० का० सं० १९३४।

१०—उत्तरार्द्ध भक्तमाल—इसमें भारतेंदु जी ने अपने समय तक के प्रायः दो सौ भक्तों का वर्णन एक सौ छानबे छप्पयों में किया है। र० का० सं १९३४।

११—प्रेम प्रलाप—इसमें बहत्तर पद तथा चार सवैए संगृहीत हैं, जिनमें इष्ट-देव के प्रति प्रेम के उलाहने तथा व्यंगपूर्ण आक्षेप हैं। र० का० सं० १९३४।

१२—गीतगोविंदानंद—जयदेव कृत गीतगोविंद का पद्यानुवाद। र० का० सं० १९३५।

१३—सतसई-सिंगार—बिहारी के पचासी दोहों पर रचे गए छप्पय इसमें संगृहीत हैं। र० का० सं० १९३५।

१४—होली—होली के उनासी गेय पदों का संग्रह है। र० का० सं० १९३६।

१५—मधुमुकुल—इसमें इक्यासी पद होली, बसंत आदि पर हैं। र० का० सं० १९३७।

१६—राग-संग्रह—इसमें एक सौ इकतालीस पदों का संग्रह है। र० का० सं० १९३७।

१७—वर्षाविनोद—वर्षा, झूला आदि पर एक सौ तीस पद हैं। र० का० सं० १९३७।

१८—विनय-प्रेम-पचासा—इसमें विनय के प्रेमपूर्ण पचास पद हैं। र० का० सं० १६३८।

१६—फूलों का गुच्छा—इसमें तेरह लावनियों का संग्रह है। र० का० सं० १६३६।

२०—प्रेम-फुलवारी—इसमें तिरानबे पदों का संग्रह है। र० का० सं० १६४०।

२१—कृष्ण-चरित्र—इसमें इक्यावन पदों और सवैयों में कृष्णलीला का वर्णन है। र० का० सं० १६४०।

छोटे प्रबंध काव्य तथा मुक्तक कविताएँ, जिनका विषय उनके नामों ही से ज्ञात हो जाता है—

२२—श्रीअलबरत वर्णन अंतर्लापिका—चार छप्पय। सं० १६१८।

२३—श्रीराजकुमार सुस्वागतपत्र—दो कवित्त तथा बारह दोहे सं० १६२६।

२४—देवी छद्मलीला—अठारह पद। सं० १६३०।

२५—प्रातः स्मरण मंगल पाठ—छब्बीस छप्पय। सं० १६३०।

२६—दैन्य प्रलाप—नौ पद। सं० १६३०।

२७—उरहना—नौ पद। सं० १६३०।

२८—तन्मय-लीला—सात पद। सं० १६३०।

२६—दान-लीला—एक बड़ा पद बासठ पंक्ति का। सं० १६३०।

३०—रानी छद्मलीला—बहत्तर पंक्ति, दोहा चौपाई आदि। सं० १६३१।

३१—बसंत होली—सोलह दोहे। सं० १६३१।

३२—मुँह दिखावनी—बीस दोहे। सं० १६३१।

३३—प्रबोधिनी—पचीस छप्पय जिनमें नौ में भारत की दुर्दशा दूर करने की प्रार्थना है। सं० १६३१।

३४—प्रात-समीरन—तेंतालीस पयार छंद। सं० १६३१।

३५—बकरी-विलाप—बत्तीस दोहे। सं० १६३१।

३६—स्वरूप-चिंतन—तेरह छप्पय। सं० १६३१।

३७—श्रीराजकुमार शुभागमन वर्णन—इकतालीस दोहे। सं० १६३२।

३८—भारतभिक्षा—राजकुमार के आगमन पर, पौने तीन सौ पंक्तियाँ। सं० १९३२।

३९—सर्वोत्तम स्तोत्र—सत्ताईस पद। सं० १९३३।

४०—निवेदन-पंचक—पाँच पद। सं० १९३३।

४१—मानसोपायन—भारतेंदुजी के केवल दो पद। सं० १९३४।

४२—प्रातःस्मरण स्तोत्र—बारह पद, एक दोहा। सं० १९३४।

४३—हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान—अट्ठानबे दोहे। सं० १९३४।

४४—अपवर्गदाष्टक—आठ छप्पय। सं० १९३४।

४५—मनोमुकुलमाला—छः पृष्ठ। सं० १९३४।

४६—वेणुगीति—तेरह पद, तीन दोहे। सं० १९३४।

४७—श्रीनाथ स्तुति—छः छप्पय, एक दोहा। सं० १९३४।

४८—अपवर्ग पंचक—पाँच छप्पय, एक दोहा। सं० १९३४।

४९—पुरुषोत्तम पंचक—पाँच पद। सं० १९३४।

५०—भारत-वीरत्व—पाँच पृष्ठ। सं० १९३५।

५१—श्री सीतावल्लभ स्तोत्र—संस्कृत के तीस श्लोक। सं० १९३६।

५२—श्रीरामलीला—ग्यारह पृष्ठ। सं० १९३६।

५३—भीष्मस्तवराज—दस पद। सं० १९३६।

५४—मानलीला फूलबुझौवल—इकतीस दोहे। सं० १९३६।

५५—बंदर-सभा—आठ गेय पद। सं० १९३६।

५६—विजय-वल्लरी—बयालीस दोहे। सं० १९३८।

५७—विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती—चौरानबे दोहे आदि। सं० १९३९।

५८—नए जमाने की मुकरी—चौदह मुकरियाँ। सं० १९४१।

५९—जातीय संगीत—छः पद। सं० १९४१।

६०—रिपनाष्टक—आठ छप्पय। सं० १९४१।[२]

(३) इतिहास

१—अग्रवालों की उत्पत्ति—जनश्रुति, लेख तथा पुराणों के आधार पर लिखी छोटी सी रचना। र० का० सं० १९२८।

२—इन रचनाओं के सिवा प्रायः साठ पृष्ठ स्फुट कविताएँ हैं और ये सब भारतेंदु ग्रंथावली, द्वितीय भाग में संकलित हैं।

२—चरितावली—इसमें सोलह जीवनियाँ तथा आठ जन्मकुंडलियाँ संगृहीत हैं। र० का० सं० १६२८–३७।

३—पुरावृत्त-संग्रह—इसमें सोलह लेख हैं जिनमें कई दानपत्रों, शिलालेखों आदि पर हैं। र० का० सं० १६२६–३१ तथा सं० १६३६।

४—अष्टादश पुराणों की उपक्रमणिका—इसमें प्रत्येक पुराण की विषय-सूची तथा फलश्रुति दी गई है। र० का० सं० १६३२।

५—महाराष्ट्र देश का इतिहास—अत्यंत संक्षेप में मराठों के उत्थान तथा पतन का इतिहास दिया गया है। र० का० सं० १६३२–३३।

६—दिल्ली-दरबार-दर्पण—१ जनवरी सन् १८७७ ई० को लार्ड लिटन ने दिल्ली में जो दरबार किया था उसी का विवरण है। र० का० सं० १६३४।

७—उदयपुरोदय—उदयपुर के राजवंश का आरंभिक इतिहास। र० का० सं० १६३४।

८—खत्रियों की उत्पत्ति—र० का० सं० १६३५। इसका आरंभ कई वर्ष पहले हो चुका था, पर साधन न मिलने से इस संवत् में पूरा किया गया।

९—बूँदी का राजवंश—संक्षेप में बूँदी का इतिहास। र० का सं० १६३६।

१०—कश्मीर-कुसुम—कश्मीर का संक्षिप्त इतिहास, प्राचीन काल से अपने समय तक, राजतरंगिणी तथा अन्य ग्रंथों और लेखों के आधार पर लिखा है। वहाँ के राजाओं की सूची कई विद्वानों द्वारा निश्चित किए गए उनके समयों तथा विशेष परिचय के साथ बड़े परिश्रम से प्रस्तुत की गई है। र० का० सं० १६४१।

११—बादशाह-दर्पण—इसमें 'उन्हीं लोगों का चरित्र है जिन्होंने हमलोगों को गुलाम बनाना आरंभ किया।' गजनी-गोर के आक्रमणों से आरंभ कर मुसलमानी राज्य के अंत तक का अति संक्षिप्त इतिहास है। अंत में एक 'चक्र' है जिसमें प्रत्येक सुलतान के माता-पिता के नाम, जन्म-मृत्यु-समय और फारसी की तारीखों, सिक्कों आदि का क्रम से विवरण दिया गया है। र० का० सं० १६४१।

१२—कालचक्र—इसमें संसार की तथा विशेषकर भारत की सभी प्रमुख घटनाओं का समय के साथ उल्लेख है। अंत में भारत के गवर्नर-जनरलों के नाम शासनकाल के साथ दिए हैं। जयपुर तथा भरतपुर के राजाओं का भी इसी प्रकार विवरण है। र० का० सं० १६४१।

१३—रामायण का समय—वाल्मीकीय रामायण के समय का विवेचन तथा नवीन मानी जाती हुई प्राचीन बातों या वस्तुओं का रामायण से ही संकलन किया गया है। र० का० सं० १९४१।

१४—पंचपवित्रात्मा—मुसलमानों के पाँच महापुरुषों की जीवनियाँ। र० का० सं० १९४१।

(४) धर्मग्रंथ

१—कार्तिक-कर्म-विधि—अनेक संस्कृत ग्रंथों के आधार पर सानुवाद मूल उद्धरणों सहित लिखा गया है। कार्तिक-स्नान करने की विस्तृत विधि दी गई है। र० का० सं० १९२९।

२—कार्तिक-नैमित्तिक-कृत्य—इसमें कार्तिक मास में किस दिन क्या-क्या कर्तव्य हैं, यही बतलाया गया है। र० का० सं० १९२९।

३—मार्गशीर्ष महिमा—अगहन महीने के स्नान की विधि तथा माहात्म्य का वर्णन। र० का० सं० १९२९।

४—माघ-स्नान-विधि—संक्षिप्त छोटी रचना। विषय स्पष्ट है। र० का० सं० १९३०।

५—पुरुषोत्तम मास विधान—मलमास या पुरुषोत्तम महीने के स्नान, दान, माहात्म्य आदि का वर्णन। र० का० सं० १९३०-१।

६—भक्तिसूत्र-वैजयंती—शांडिल्य ऋषि कृत भक्ति के सौ सूत्रों की व्याख्या। र० का० सं० १९३०-१।

७—वैष्णव सर्वस्व—वैष्णव गुरु-परंपरा तथा संप्रदायों की परंपरा का वर्णन। र० का० सं० १९३२।

८—वल्लभीय सर्वस्व—इसमें श्रीवल्लभाचार्य का विशेष वर्णन है। र० का० सं० १९३२।

९—तदीय सर्वस्व—श्रीनारद के भक्तिसूत्रों की विस्तृत व्याख्या है। र० का० सं० १९३१-३३।

१०—श्रीयुगुल सर्वस्व—इसमें श्रीराधाकृष्ण की नित्यलीला के सखा, सखी-सहचरी आदि के नाम, रूप, स्वभावादि का वर्णन है। र० का० सं० १९३३।

११—उत्सवावली—इसमें वर्ष भर के उत्सवों की तालिका तथा सेवा का संक्षेप में वर्णन दिया गया है। र० का० सं० १६३३-३४।

१२—वैष्णवता और भारतवर्ष—भारतवर्ष का प्रकृत मत वैष्णव है, इसी की पुष्टि की गई है। र० का० सं० १६३४ (?)।

१३—हिंदी कुरान शरीफ—मुसलमानों की धर्म-पुस्तक का संक्षिप्त अनुवाद। र० का० सं० १६३२-४।

१४—ईशू खृष्ट और ईश कृष्ण—र० का० सं० १६३६।

१५—श्रुतिरहस्य—सामवेद पर लेख। र० का० सं० १६३३।

१६—दूषणमालिका—र० का० अज्ञात।

(५) अन्य स्फुट रचनाएँ

१—मदालसोपाख्यान—पूर्ण तथा प्रकाशित। र० का० सं० १६३३।

२—राजसिंह—बँगला से अनुवाद, अपूर्ण, जिसे बाद में पूरा कर प्रकाशित किया गया था।

३—एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती—केवल एक परिच्छेद प्राप्त।

इनके सिवा हमीरहठ, सुलोचना, शीलवती तथा सावित्री-आख्यान इनके लिखे सुने जाते हैं पर ये अप्राप्त हैं।

४—पाँचवाँ पैगंबर—निबंध।

५—स्वर्ग में विचार-सभा—निबंध।

६—परिहासिनी—चुटकुलों का संग्रह।

७—संगीत-सार—र० का० सं० १६३२।

८—बलिया में व्याख्यान—सं० १६३४।

९—तहकीकातपुरी की तहकीकात (अठारह पृष्ठ)—र० का० सं० १६२८।

१०—सीतावट निर्णय।

११—कृष्ण भोग—पाकविद्या। र० का० सं० १६४१।

१२—स्तोत्र पंचरत्न—परिहासात्मक गद्यपद्यमय लेख।

१३—हिंदी भाषा—लेख।

इनके अतिरिक्त भारतेंदु के बहुत से लेख, निबंध, यात्रा-विवरण आदि उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में बंद पड़े हैं जिन्हें, आशा है, भारतेंदु-ग्रंथावली के तीसरे तथा चौथे भागों में यथाशक्ति संगृहीत किया जायगा।

भारतेंदु और उनके पूर्ववर्ती कवि

[श्री किशोरीलाल गुप्त]

भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र की गणना सर्वदा विलक्षण एवं मौलिक प्रतिभाशाली रचनाकारों में की जायगी। अपने कार्यव्यस्त अल्प जीवन में समाज और कुटुंब-कृत निंदा और विरोध, शासन की कोपदृष्टि तथा अर्थाभावजन्य कष्टों को सहन करते हुए भी जिसने केवल १७-१८ वर्षों के भीतर उतनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं जितनी प्रस्तुत करने में साधारणतः किसी बड़े कवि या लेखक को ५०-६० वर्ष से कम न लगते, जिसकी प्रत्येक बात में कुछ न कुछ अनूठापन रहता था और जिसमें स्वाभिमान की मात्रा भी कुछ कम नहीं थी, वह उदाराशय कविपुंगव किसी अन्य कवि की रचना से भाव उधार लेने का विचार भी सहन नहीं कर सकता था। एक बार उन्होंने एक कवित्त रचा जिसपर उनके फुफेरे भाई श्री राधाकृष्ण दास ने किसी अन्य कवि की रचना से उसका भावसाम्य दिखलाया। यद्यपि भाव-साम्य अन्य देश या भाषा के अपरिचित कवियों के बीच भी सर्वथा संभव है, और भारतेंदु की रचना उस कथित कवि की रचना से कहीं उत्कृष्ट थी, तथापि उन्हें वह सहन नहीं हुआ और उन्होंने तुरत उसे यह कहते हुए फाड़ डाला कि 'मैंने वह रचना देखी भी नहीं थी।'

इससे यह कहना अनावश्यक है कि वे किसी अन्य कवि के भाव को ग्रहण करनेवाले व्यक्ति नहीं थे। परंतु भाव-ग्रहण एक बात है और प्रभाव-ग्रहण बिलकुल दूसरी बात। अन्य कवियों का प्रभाव ग्रहण करना उन्हें अस्वीकार नहीं था, प्रत्युत वे अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से पूर्ण लाभ उठाने के पक्षपाती थे। इस दृष्टि से उनके द्वारा प्रस्तुत साहित्य को वे अपनी विरासत मानते थे। फलतः पूर्ववर्ती अनेक कवियों से उनका भावसाम्य होना अस्वाभाविक नहीं है। परंतु वहाँ भी उन्होंने भावोत्कर्ष का सर्वत्र ध्यान रखा है।

सूर और भारतेंदु

भारतेंदु-वल्लभ-संप्रदाय के वैष्णव थे और अष्टछाप के कवियों की परंपरा पर चलकर उन्होंने नौ सौ के लगभग पदों की रचना की है। इनमें से ३५० के लगभग

पद विनय संबंधी हैं, शेष ५५० के लगभग कृष्णचरित से संबंध रखते हैं। कृष्ण-चरित पर कुछ लिखकर सूर के प्रभाव से वंचित रह जाना असंभव है, फलतः भारतेंदु भी सूर के प्रभाव से बच नहीं सके हैं। भारतेंदु-पदावली के अध्ययन से प्रकट होता है कि उसके प्रमुख अंग ये हैं—गुरु-वंदना, विनय, कृष्ण-राधा-जन्म, पूर्वानुराग, राधा-रूप, राधा-कृष्ण-विवाह, युगल-विहार, गोपी-विरह तथा पुन-र्मिलन। इन क्षेत्रों में भारतेंदु की प्रतिभा ने पर्याप्त नूतनता दिखलाई है और इन पर सूर का प्रभाव बहुत ही कम है। सूर को तो प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में दक्षता प्राप्त है, पर विनय, माखनलीला, दानलीला, चीरहरण, गोवर्धनधारण, मानलीला, रासलीला, मुरली, नयन, कृष्ण-रूप, गोपी-विरह, भ्रमरगीत आदि का उन्होंने अत्यधिक विस्तार किया है। भारतेंदु ने इन विषयों पर (विनय को छोड़कर) थोड़े पद लिखे हैं, परंतु यहाँ भी कुछ मौलिक पद उन्होंने प्रस्तुत किए हैं, यहाँ भी सूर का कोरा अनुकरण उन्होंने नहीं किया है।

अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ ही से भारतेंदु ने पद-रचना की ओर ध्यान दिया था। विद्यासुंदर उनका प्रथम नाटक है जो १६२५ वि० में उनकी १८ वर्ष की अवस्था में निकला। इसमें १२ कविताएं हैं, जिनमें ६ पद हैं। इनमें से एक पद तो सूर के पद की पूर्ण छाया है, आरंभिक कृति होने के कारण ऐसा हो जाना कुछ कठिन भी नहीं था। विद्यासुंदर का वह पद इस प्रकार है—

> बावरी प्रीति करो मति कोय।
> प्रीति किए कौने सुख पायो मोहिं सुनाओ सोय॥
> प्रीति कियो गोपिन माधव सों लोकलाज भय खोय।
> उनको छोड़ि गए मथुरा को बैठि रहीं सब रोय॥
> प्रीति पतंग करत दीपक सों सुंदरता कहँ जोय।
> सो उलटो तेहि दाह करत है पच्छ नसावत दोय॥
> जानि बूझि के प्रीति करी हम कुल मरजादा धोय।
> अब तो प्रीतम रंग रँगी मैं होनी होय सो होय॥

सूर का प्रेरक पद यह है—

> प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
> प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो॥
> अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों संपति हाथ गह्यो।
> सारँग प्रीति करी जो नाद सों सन्मुख बान सह्यो॥

हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछू कह्यो ।
'सूरदास' प्रभु बिन दुख दूनो नैनन नीर बह्यो ॥

भारतेंदु-पदावली का विस्तृत अध्ययन करते समय अन्यत्र लेखक द्वारा सूर के प्रभाव को दिखलाने का पूर्ण प्रयास किया गया है, अतः यहाँ इतना ही अलं है ।

तुलसी और भारतेंदु

भारतेंदु पर तुलसी का प्रभाव नहीं के बराबर हैं । केवल 'रामलीला' नामक चंपू राम-कथा से संबंध रखता है । यह रामनगर की रामलीला देखकर, उससे प्रेरणा प्राप्त करके लिखा गया था । इसमें बाल एवं अयोध्या कांड की कथा आई है । इसपर तुलसी का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता । विनय संबंधी पदों पर यत्र तत्र कुछ प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता है, यथा—

(१) कबहूँ मन बिस्राम न मान्यो ।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो ॥

—विनयपत्रिका, ८८

मन मेरो कहुँ न लहत बिस्राम ।
तृष्णातुर धावत इत ते उत पावत कहुँ नहिं ठाम ॥

—कृष्णचरित, ३०

(२) भारतेंदु जी को इस बात पर अत्यधिक ग्लानि है कि यह संपूर्ण जीवन यों ही दुःख में रोते-रोते बीत गया—

क—उमरि सब दुख ही माँहिं सिरानी ।
अपने इनके उनके कारज रोअत रैन बिहानी ॥

—विनय-प्रेम-पचासा, १४

ख—बैस सिरानी रोअत रोअत ।
सपनेहु चौंकि तनिक नहीं जागौं बीती सबही सोअत ॥
गई कमाई दूर सबै छुन रहे गाँठ को खोअत ।
औरहु कजरी तन लपटानी मन जानी हम धोअत ॥
स्वाद मिल्यो न मजूरी को सिर टूट्यो बोझा ढोअत ।
'हरीचंद' नहिं भर्‍यो पेट पै हाथ जरे दोउ पोअत ॥

—वही, १५

इस जीवन के यों ही बीत जाने पर गोसाईं तुलसीदास भी अत्यंत क्षुब्ध हैं—

क—जनम गयो बादिहिं बर बीति।
परमारथ पाले न परयो कछु अनुदिन अधिक अनीति ॥
—विनय पत्रिका, २३४

ख—ऐसेहि जनम समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ सो प्रभु तजि सेवत चरन बिराने ॥
—वही, २३५

'विनयपत्रिका' में एक अन्य स्थान पर गोसाईं जी ने लिखा है—

डासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न नाथ ! नींद भरि सोयों।

संभवतः इसी पंक्ति से प्रेरणा प्राप्तकर भारतेंदु ने ऊपर के पद की अंतिम पंक्ति लिखी है—

'हरीचंद' नहिं भरयो पेट पै हाथ जरे दोउ पोश्रत।

(३) विनयपत्रिका में गोसाईं जी ने सीताजी से अनुरोध किया है कि वे अवसर देखकर रामजी से उनकी सिफारिश कर दें—

कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरियौ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ ॥
—'विनयपत्रिका, ४१

भारतेंदुजी ने भी इसी प्रणाली पर एक स्थान पर लिखा है—

सखियो याद दिवावति रहियो।
समय पाइकै दसा हमारिहु कबहुँ जुगल सों कहियो ॥
--प्रेमफुलवारी, ७५

(४) 'कार्तिक-स्नान' के निम्नोक्त दोहे पर तुलसी का प्रभाव लक्षित होता है—

कृष्ण नाम मनि-दीप जो, हिय घर में न प्रकास।
दीप बहुत बारे कहा, हिय-तम भयो न नास ॥
—कार्तिक-स्नान, १८

यह 'नाम' का 'मनि-दीप' तुलसी के अत्यंत प्रसिद्ध निम्नोक्त दोहे में भी है—

राम नाम मणि-दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी बाहिर भीतरहु, जो चाहसि उजियार ॥

इन भाव-साम्यों के अतिरिक्त अपने प्रसिद्ध तरजीहबंद—'चमक से बर्क के उस बर्कवश को याद आई है'—में उन्होंने तुलसी के चातक-प्रेम संबंधी निम्नोक्त दोहों का भी उपयोग किया है—

(१) रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखिगे अंग।
'तुलसी' चातक प्रेम को, नित नूतन रुचि रंग॥

(२) बरसि परुख पाहन पयद, पंख करो टुक टूक।
'तुलसी' परी न चाहिए, चतुर चातकहिं चूक॥

(३) जौ घन बरसै समय सिर, जो भरि जनम उदास।
'तुलसी' जाचक चातकहिं, तऊ तिहारी आस॥

नाभादास और भारतेंदु

नाभादास के भक्तमाल से प्रभावित होकर भारतेंदु जी ने अपना भक्तमाल लिखा और इसको नाभा जी के ग्रंथ का परिशिष्ट मानकर इसके पहले 'उत्तरार्द्ध' भी लगा दिया। यह पूर्ण रूपेण भक्तमाल की शैली में लिखा गया है। प्रशस्ति के लिये भारतेंदु जी ने छप्पय यहीं से ग्रहण किया।

केशव और भारतेंदु

संस्कृत का एक श्लोक है—

मा याहीत्यपमङ्गलं, व्रज सखे ! स्नेहेन शून्यं वचः
तिष्ठेति प्रभुता, यथारुचि कुरुष्वेषाप्युदासीनता।
नो जीवामि विना तवेति वचनं संभाव्यते वा न वा
तन्मां शिक्षय नाथ मत्समुचितं वक्तुं त्वयि प्रस्थिते॥

इसका अनुवाद केशव और भारतेंदु दोनों ने किया है।

केशव कृत अनुवाद—

जौ हौं कहौं रहिए तो प्रभुता प्रगट होय,
चलन कहौं तो हित हानि नाहीं सहनो।
भावै सो करहु तो उदास भाव प्राननाथ,
साथ लै चलहु कैसे लोकलाज बहनो।
केसौराय की सौं तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जो पै नाहीं आज रहनो।

तैसियै सिखावौ सीख तुमहीं सुजान पिय,
तुमहिं चलत मोहिं जैसो कछू कहनो ॥

भारतेंदु कृत अनुवाद—

रोकहिं जौ तो अमंगल होय औ प्रेम नसै जो कहैं पिय जाइए।
जो कहैं जाहु न तौ प्रभुता जौ कछू न कहैं तो सनेह नसाइए।
जौ 'हरिचंद' कहैं तुमरे बिन जीहैं न तो यह क्यों पतिआइए।
तासों पयान समै तुमरे हम का कहैं आपै हमैं समझाइए ॥
—प्रेममाधुरी, १५

निश्चय ही भारतेंदु का अनुवाद केशवदास जी के अनुवाद से कहीं अधिक सरस, सफल, संक्षिप्त एवं प्रसाद-गुण-पूर्ण है।

भारतेंदु का एक सवैया है—

क्यों इन कोमल गोल कपोलन देखि गुलाब को फूल लजायो।
त्यों 'हरिचंद जू' पंकज के दल सो सुकुमार सबै अँग भायो ॥
अमृत से जुग ओंठ लसे नव पल्लव सो कर क्यों है सुहायो।
पाहन सो मन होते सबै अँग कोमल क्यों करतार बनायो ॥
—प्रेममाधुरी, ४०

संभवतः इस सवैए के लिये प्रेरणा केशव के निम्नलिखित कवित्त से मिली है—

मन ऐसो मन मृदु, मृदुल मृणालिका के
सूत कैसो सुर ध्वनि मननि हरत है।
दारयौं कैसो बीज दाँत पाँत से अरुण ओंठ,
केशौदास देखि दृग आनंद भरत है ॥
एरी मेरी तेरी मोहिं भावत भलाई तातें
बूझति हौं तोहिं और बूझत डरत है।
माखन सी जीभ मुख कंज सो कोमलता में
काठ सी कठेटी बात कैसी निकरत है ॥

सेनापति और भारतेंदु

सेनापति का एक बहुत प्रसिद्ध कवित्त है—

फूलन सों बाल की बनाइ गुही बेनी लाल
भाल दीनी बेंदी मृगमद की असित है

अंग अंग भूषन बनाइ ब्रजभूषन जू,
बीरी निज कर कै खवाई अति हित है।
ह्वै कै रस बस जब दीबे कौं महाउर के
'सेनापति' स्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सौं
कही प्रानपति यह अति अनुचित है॥

भारतेंदु का भी एक पद है जिसमें नायक स्वयं नायिका का पुष्प-शृंगार कर रहा है—

फूल को सिंगार करत अपने हाथ प्यारो।
फूलन को कलियन सों आभरन सँवारो॥
पाटी पारि अपने हाथ बेनी गुथि बनावै।
सीसफूल करनफूल लै लै पहिरावै॥

× × ×

पायल पहिरावन को चित जबै कीनो।
प्रान प्यारी सोचि चरन तब छिपाय लीनो॥

सेनापति की नायिका में प्रौढ़त्व एवं प्रगल्भता अधिक है, इसलिये वह महावर नहीं देने देती। नायक के हाथ चूम लेती है, उन्हें आँखों से लगा लेती है और कहती है—'प्रानपति, यह अति अनुचित है।' भारतेंदु की नायिका कुछ कहती नहीं। वह अधिक सूझ-बूझवाली भी है। सेनापति की नायिका ने नायक को तब रोका जब उसने उसके ललित चरण गह लिए। भारतेंदु की नायिका नायक को ललित चरण गहने का अवसर ही नहीं देती, वह तो प्यारे के चित्त की बात जानती है। जैसे ही नायक ने पायल पहिनाने का विचार किया, नायिका ने तत्काल पैर छिपा लिए। भारतेंदु की नायिका के इस तरह पैर छिपा लेने में अधिक लाक्षणिकता एवं सरसता है। सेनापति का नायक नायिका की उक्ति पर चुप हो जाता है, पर भारतेंदु का नायक और अधिक रसिक है—

प्यारी को सँकोच जानि प्यारे इमि भाख्यो।
मान समय कोटि बार इनहिं सीस राख्यो॥
पायल पग बाँधि फूल माला पहिराई।
अपने कर नंदलाल आरसी दिखाई॥

फिर क्या था—

प्यारी तब धाइ पिया कंठहिं लपटाई।
'हरीचंद' बार बार लखिकै बलि जाई॥

—रागसंग्रह, ७५

रसखान और भारतेंदु

भारतेंदु जी पर रसखान का प्रभाव कम नहीं पड़ा है। सवैयों के प्रसिद्ध संग्रह 'सुंदरी तिलक' में उन्होंने रसखान के अनेक सवैयों का सरस संकलन किया है। भारतेंदु का एक सवैया है—

यह सावन सोक नसावन है मनभावन यामैं न लाजै भरो।
जमुना पै चलौ सु सबै मिलि कै अरु गाय बजाय के सोच हरो।
इमि भाखत हैं 'हरिचंद' पिया अहो लाड़िलो देर न यामें करो।
बलि झूलो झुलाओ झुको उझको इहिं पाखैं पतिव्रत ताखैं धरो॥

भारतेंदु के प्रसिद्ध जीवनीकार बाबू शिवनंदनसहाय जी के अनुसार यह भारतेंदुजी का पहला सवैया है और इन्होंने इसे 'गोकुल' कवि की समस्या पर बनाया था। रसखान का एक सवैया है—

लीने अबीर, भरे पिचका, 'रसखानि' खड़्यो बहु भाव भरो जू।
मार से गोपकुमार कुमार वे, देखत ध्यान टरो न टरो जू॥
पूरब पुन्यनि दाँव परयो अब राज करौ उठि काज करौ जू।
अंक भरौ निरसंक उन्हैं इहि पाख पतिव्रत ताख धरो जू॥

संभवतः 'गोकुल' जी ने 'इहिं पाखैं पतिव्रत ताखैं धरौ' रसखान के 'इहि पाख पतिव्रत ताख धरो जू' से ही लिया है। रसखान को होली से उद्दीपन मिला है तो भारतेंदु को सावन से। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतेंदुजी रसखान के सवैए से तब तक परिचित थे या नहीं। निश्चय ही इसपर रसखान का कोई प्रभाव नहीं है।

भारतेंदु बाबू का एक दूसरा सवैया है—

पूजि के कालिही सत्रु हतौ कोउ लच्छमि पूजि महाधन पाओ।
सेइ सरस्वति पंडित होउ गनेसहि पूजि कै विघ्न नसाओ॥

त्यों 'हरिचंद जू' ध्याइ शिवै कोउ चार पदारथ हाथहिं लाओ।
मेरे तो राधिका नायक ही गति लोक दोऊ रहौ कै नसि जाओ॥

—कार्तिकस्नान

इसी तुक, शैली, अर्थ और ध्वनि का रसखान का भी एक सवैया है, कहीं कहीं पदावली भी एक ही है—

सेस सुरेस दिनेस गनेस प्रजेस धनेस महेस मनाओ।
कोऊ भवानी भजौ मन की सब आस सबै विधि जाय पुराओ॥
कोऊ रमा भजि लेहु महाधन कोऊ कहूँ मनबांछित पाओ।
पै 'रसखानि' वही मेरो साधन और त्रिलोक रहो कि नसाओ॥

निश्चय ही भारतेंदुजी का आदर्श रसखान का यह सवैया है।

इन सवैयों के अतिरिक्त भारतेंदु का लघु प्रेम-काव्य 'प्रेमसरोवर' रसखान की 'प्रेम वाटिका' के ढंग पर रचित है। दोनों दोहों में लिखे गए हैं जिनमें परस्पर शब्द, पद एवं अर्थ का अत्यधिक साम्य है। इन साम्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत लेखक द्वारा 'प्रेम सरोवर और प्रेम वाटिका' नामक एक अन्य लेख में किया गया है। यहाँ उदाहरण के लिये इन ग्रंथों में प्रत्येक से केवल एक-एक दोहा उद्धृत किया जाता है—

प्रेम प्रेम सब कोउ कहत, प्रेम न जानत कोय।
जो जन जाने प्रेम तो, मरै जगत क्यां रोय॥

—प्रेमसरोवर

प्रेम प्रेम सबही कहत, प्रेम न जान्यौ कोय।
जो पै जानहिं प्रेम तो, मरै जगत क्यों रोय॥

बिहारी और भारतेंदु

भारतेंदुजी बिहारी से भी प्रभावित थे, जैसा कि 'सतसई शृंगार' से स्पष्ट है (इस ग्रंथ में भारतेंदु जी ने बिहारी के ८५ दोहों पर कुंडलियाँ लगाई हैं), परंतु उन्होंने बिहारी की शैली एवं पदावली का अनुकरण कहीं भी नहीं किया। गिनती में तो भारतेंदु ने बिहारी से प्रायः ड्योढ़े, एक सहस्र से कुछ अधिक, दोहों की रचना की है, परंतु वे एक उच्च कोटि के दोहाकार नहीं कहे जा सकते। इस दृष्टि से बिहारी तो दूर, उनकी तुलना कबीर, तुलसी, रहीम आदि से भी नहीं की जा सकती।

भारतेंदु जी अत्यंत सरल शैली के पोषक थे, इसलिये उनके दोहों में बिहारी की अलंकृत समास-पदावली के दर्शन दुर्लभ हैं। भारतेंदु जी के केवल दो दोहों में बिहारी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है—

(१) मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तनु की झाँईं परे, श्याम हरित दुति होय॥
—बिहारी

जय जय श्रुति पद वंदिनी, कीर्ति नंदिनी बाल।
हरि मन परमानंदिनी, कंदिनि भव भय जाल॥
—कार्तिक-स्नान, १६

(२) तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रस रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे, जे बूड़े सब अंग॥
—बिहारी

जे डूबे तेई भले, तिरे तरे ते नाहिं।
प्रेम सरोवर की लखी, उलटी गति जग माँहिं॥
—प्रेम-सरोवर, ११

अपने प्रसिद्ध तरजीहबंद में बिहारी के कई दोहे भारतेंदु जी ने उद्धृत किए हैं। यथा—

(१) पावस घन अँधियार में, रह्यो भेद नहिं आन।
राति द्यौस जान्यो परै, लखि चकई चकवान॥
(२) वामा भामा कामिनी, कहि बोलो प्रानेस।
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत विदेस॥

देव और भारतेंदु

भारतेंदु जी कविवर देव के परम प्रशंसक थे। उन्होंने देव के कुछ कवित्त-सवैयों का एक संग्रह 'सुंदरी सिंदूर' के नाम से प्रकाशित कराया था। कुछ कवित्त-सवैयों को 'कर्पूर मंजरी' तथा 'सत्य हरिश्चंद्र' में उद्धृत किया है, अनेक सवैयों को स्व-संकलित 'सुंदरी तिलक' में स्थान दिया है। इनसे स्पष्ट है कि वे देव की काव्य-प्रतिभा से प्रभावित अवश्य थे। परंतु भाव की दृष्टि से इन दोनों महाकवियों में बहुत साम्य नहीं मिलेगा। देव कवि का एक अत्यंत प्रसिद्ध सवैया है—

'देव' मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद बिंदु कै राख्यौ।
कंचुकी मैं चुपरयो करि चोवा लगाय लिए उर सों अभिलाख्यौ॥
लै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ।
साँवरे लाल कौ साँवरो रूप मैं नैननि कौ कजरा करि राख्यौ॥

भारतेंदु का भी इसी से मिलता-जुलता एक पद नीचे दिया जाता है, परंतु उसमें वह कसावट नहीं जो उक्त सवैए में है—

नैनन मैं निवसौ पुतरी ह्वै हिय मैं बसौ ह्वै प्रान।
अंग अंग संचरहु सक्ति ह्वै ए हो मीत सुजान॥
मन में वृत्ति वासना ह्वै कै प्यारे करौ निवास।
ससि सूरज ह्वै रैन दिना तुम हिय-नभ करहु प्रकास॥
वसन होइ लिपटौ प्रति अंगन भूषन ह्वै तन बाँधो।
सोंधो ह्वै मिलि जाउ रोम प्रति अहो प्रानपति माधो॥
ह्वै सुहाग-सेंदुर सिर विलसौ अधर राग ह्वै सोहौ।
फूल माल ह्वै कंठ लगौ मम निज सुवास मन मोहौ॥
नभ ह्वै पूरौ मम आँगन मैं पवन होइ तन लागौ।
ह्वै सुगंध मो घरहिं बसावहु रस ह्वैकै मन पागौ॥
श्रवनन पूरौ होइ मधुररस अंजन ह्वै दोउ नैन।
होइ कामना जागहु हिय मैं करहु नींद बनि सैन॥
रहौ ज्ञान में तुमहीं प्यारे तुम-मय तन मन होय।
'हरीचंद' यह भाव रहै नहिं प्यारे हम तुम दोय॥

—विनय-प्रेम-पचासा, ३

घनानंद और भारतेंदु

भारतेंदु के विप्रलंभ-शृंगार संबंधी कवित्त-सवैए घनानंद की याद दिलाते हैं। घनानंद अपनी लाक्षणिकता के कारण कुछ दुरूह हो गए हैं, पर भारतेंदु के छंद सरस, स्पष्ट एवं सरल हैं, अर्थ-ग्रहण में कठिनाई नहीं होती। घनानंद के १०० से कुछ अधिक कवित्त-सवैयों का एक संग्रह भारतेंदु जी ने 'सुजान शतक' के नाम से प्रकाशित कराया था। घनानंद पर यही पहली प्रकाशित पुस्तक है। 'सुंदरी तिलक' में भी घनानंद के अनेक सवैयों को उन्होंने स्थान दिया है। इन बातों से स्पष्ट है कि घनानंद के काव्य से भी भारतेंदु को सहज स्नेह था। 'प्रेमाश्रुवर्णन' के मुखपृष्ठ ऊपर उन्होंने घनानंद का यह प्रसिद्ध सवैया उद्धृत किया है—

पर कारज को देह धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सबही विधि सुंदरता सरसौ॥
घन आनँद जीवन-दायक हौ कबौं मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मों अँसुवान को लै बरसौ॥

यह उद्धरण ही भारतेंदु के घनानंद-प्रेम का परिचायक है।

लै मन फेरिबो जानौ नहीं अलि नेह निबाह कियो नाहीं आवत।
हेरि कै फेरि मुखै 'हरिचंद जू' देखनहू को हमैं तरसावत॥
प्रीत पपीहन को घन साँवरे पानिप-रूप कबौं न पिआवत।
आनौ न नेक बिथा पर की बलिहारी तऊ हौ सुजान कहावत॥

—प्रेममाधुरी, ६८

इसमें 'घन' और 'सुजान' शब्द निश्चय ही सुजान-प्रेमी घनानंद की देन हैं, जिन्हें भारतेंदु जी ने सहज ही ग्रहण कर लिया है।

घनानंद के एक कवित्त का अंतिम चरण है—

हेत-खेत-धूरि चूर चूर ह्वै मिलैगो तब
चलैगी कहानी घन आनँद तिहारे की।

—सुजानहितप्रबंध, २२०

इसी से मिलती-जुलती भारतेंदु की यह प्रसिद्ध पंक्ति है—

'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे
प्यारे 'हरिचंद' की कहानी रहि जायगी।

—प्रेम जोगिनी (प्रस्तावना),

घनानंद का एक सवैया है—

कितको ढरिगो वह ढार अहो जिहि मोतन आँखिन ढोरत हे।
अरसानि गही उहि बानि कछू सरसानि सों आनि निहोरत हे॥
'घनआनँद' प्यारे सुजान सुनौ तब यौं सब भाँतिन भोरत हे।
मन माँहिं जौ तोरन ही तो कहो विसवासो सनेह क्यों जोरत हे॥

—सुजानहितप्रबंध, २७१

इसकी पहली पंक्ति से भारतेंदु के निम्नलिखित सवैए का प्रारंभ बहुत-कुछ मिलता-जुलता है—

कितको दुरिगो वह प्यार सबै क्यों रुलाई नई यह साजत हौ।
हरिचंद भये हो कहा के कहा अनबोलिबे ते नहिं छाजत हौ।
नित को मिलनो तो किनारे रह्यो मुख देखत ही दुरि भाजत हौ।
पहिले अपनाय बढ़ाय के नेह न रूसिबे में अब लाजत हौ॥

—प्रेममाधुरी, १२६

घनानंद के उपर्युक्त सवैए का अंतिम चरण, भारतेंदु के निम्नोक्त सवैए के अंतिम चरण से पूरा मेल खा जाता है—

पहिले मुसकाइ लजाइ कछू क्यों चितै मुरि मो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ, बढ़ाइ कै प्रीति, निबाहन को क्यों कलाम कियो।
हरिचंद कहा के कहा है गए कपटीन सो क्यों यह काम कियो।
मन माँहिं जौ छोड़न ही की हुती अपनाइ कै क्यों बदनाम कियो॥

—प्रेममाधुरी, १२६

घनानंद का दूसरा सवैया है—

जिनकों नित नीके निहारति हीं तिनकों अँखियाँ अब रोवति हैं।
पल पाँयडे पायनि चायनि सों अँसुवान के धारनि धोवति हैं।
'घनआनँद' जान सजीवन कों सपने बिन पाएँइ खोवति हैं।
न खुली मुँदी जानि परैं कछु ये दुखहाई जगे पर सोवति हैं॥

—सुजानहितप्रबंध, ३१६

भारतेंदु जी ने भी एक सवैए में आँखों की विकलता का कुछ ऐसा ही वर्णन किया है—

मनमोहन तें बिछुरीं जब सों तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचंद जू' प्रेम के फंद परीं कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं।
दुख के दिन कों कोऊ भाँति बितै बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमही अपनी दसा जानैं सखी निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं॥

—प्रेममाधुरी, ११६

भादों बदी चौथ के चंद्रमा को देखने से कलंक लगता है। इस जन-विश्वास का उपयोग घनानंद और भारतेंदु दोनों ने किया है। घनानंद की नायिका कहती है—

चौथि को चंद लखें ब्रजचंद सों लागै कलंक तौ ऊजरे हूजै।

—घनआनंद और आनंदघन, पृ० ४३३, छंद १२२

भारतेंदु की नायिका उससे भी एक पग आगे है—

> गोकुल के चंदजू सों लागै जो कलंक तौ तू
> साँचो चौथ चंद ना तो आदर को टूक है ॥
>
> —प्रेममाधुरी, ११८

मतिराम और भारतेंदु

> जानत हौं नहीं ऐसी सखी इन मोहन जैसी करी हम सों दई ।
> होत न आपुने पीअ पराए कहौं यह बोलनि साँची अरी भई ।
> हा हा कहा 'हरिचंद' करौं विपरीत सबै विधि नै हमसों ठई ।
> मोहन हूँ निरमोही महा भए नेह बढ़ाय कै हाय दगा दई ॥
>
> —प्रेममाधुरी, २६

'होत न आपुने पीअ पराए'—यह 'बोलनि' संभवतः मतिराम के निम्नोक्त सवैए से अनुप्राणित हो रही है, जिसे उन्होंने परकीया खंडिता के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है—

> रावरे नेह को लाज तजी अरु गेह के काज सबै बिसरायो ।
> डारि दयो गुरु लोगन को डर गाँव चवाई में नाम धरायो ॥
> हेतु कियो हम जेतो कहा तुम तो 'मतिराम' सबै बिसरायो ।
> कोउ कितेक उपाय करो कहुँ होत है आपनो पीउ परायो ॥
>
> —ललित ललाम, ८४

बोधा और भारतेंदु

'प्रेम सरोवर' का आठवाँ दोहा है—

> प्रेम सरोवर पंथ में, चलिहै कौन प्रवीन ।
> कमल-तंतु की नाल सो, जाको मारग छीन ॥

भारतेंदु ने प्रेम-मार्ग की इस क्षीणता की नाप को संभवतः बोधा से लिया है—

> अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है ।
> सुई बेह ते द्वार सकीन तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है ।
> कवि बोधा अनी घनी नेजहु ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है ।
> यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है ॥
>
> —इश्कनामा

कविंद और भारतेंदु

काले परे कोस चलि चलि थकि गए पाय
सुख के कसाले परे ताले परे नस के।
रोय रोय नैनन में हाले परे जाले परे
मदन के पाले परे प्रान परबस के।
'हरीचंद' अंग हू हवाले परे रोगन के
सोगन के भाले परे तन बल खसके।
पगन में छाले परे नाँघिबे को नाले परे
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के॥

—प्रेममाधुरी, १०४

भारतेंदुजी ने 'कविंद' के निम्नोक्त कवित्त के चतुर्थ चरण को लेकर समस्या-पूर्ति के ढंग पर अपना उक्त कवित्त लिखा है—

कैसी है लगन, जामैं लगन लगाई तुम
प्रेम की पगनि के परेखे हिएँ कसके।
केतिकौ छपाइ के उपाय उपजाइ प्यारे
तुमतें मिलाप के बढ़ाए चोप चसके।
भनत 'कविंद' हमैं कुंज मैं बुलाइ करि
बसे कित जाय दुख दैकर अबस के।
पगन में छाले परे नाँघिबे को नाले परे
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के॥

भारतेंदु ने कविंद के चतुर्थ चरण के अनुप्रास (छाले, नाले, लाले) को प्रथम तीन चरणों में भी (काले, कसाले, ताले; हाले, जाले, पाले; हवाले, भाले) विस्तृत कर अपने कवित्त को अधिक कलामय बना दिया है। साथ ही उनके अंत्यानुप्रास भी कविंद के अंत्यानुप्रासों से भिन्न हैं, जो उनके शब्द-भांडार की संपन्नता के सूचक हैं। कविंद की नायिका वस्तुतः विप्रलब्धा है, सहेट में प्रिय को न पा वह अत्यंत दुखी है। उसका दुःख एक दिन का है। परंतु भारतेंदु की नायिका (उसे श्री प्रभुदयाल मीतल ने स्वरचित 'ब्रजभाषा साहित्य में नायिका-भेद' में विप्रलब्धा का उदाहरण माना है) चिर दुखिया है जिसे अपने प्रिय के दर्शन कभी नहीं होते।

ठाकुर और भारतेंदु

ठाकुर अपने उन सवैयों के लिये हिंदी काव्य-जगत् में अत्यंत प्रसिद्ध हैं जिनमें उन्होंने लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। चतुर्थ चरण में आकर ये लोकोक्तियाँ भाव के प्रभाव को अत्यंत बढ़ा देती हैं। इसीलिये इन्हें 'लोकोक्ति अलंकार' कहा गया है। ठाकुर की इस प्रकार की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में हैं। भारतेंदु ने भी संभवतः ठाकुर की सर्वप्रियता के इस मर्म को समझते हुए इसी प्रणाली पर कुछ अत्यंत मनोरम सवैए रचे हैं। इनमे कहीं भाव-साम्य नहीं है। लोकोक्ति अलंकार के प्रधान कवि हैं ठाकुर; उनके पश्चात् इस दिशा में भारतेंदु ही आते हैं।

पद्माकर और भारतेंदु

देव और घनानंद के समान पद्माकर भी भारतेंदु के प्रिय कवियों में थे। उनके अनेक सवैयों को उन्होंने 'सुंदरी -तिलक' में संकलित किया है। कवित्त-सवैया लिखने में भारतेंदु अपने को पद्माकर की कोटि का कवि समझते थे। 'कर्पूर मंजरी' में विदूषक विचक्षणा के प्रति क्रुद्ध होकर राजा से कहता है—"तो साफ साफ क्यों नहीं कहते कि हरिश्चंद्र और पद्माकर इसके आगे कुछ नहीं हैं ?" इसी नाटक में भारतेंदु ने पद्माकर के हिंडोला संबंधी कई कवित्त भी उद्धृत किए हैं। जो सरलता और भाषा की सफाई पद्माकर के कवित्त-सवैयों में मिलती है, वही सरलता और सफाई भारतेंदु के कवित्त-सवैयों में भी दृष्टिगोचर होती है।

पद्माकर ने जयपुर में राजा जगतसिंह की सभा में पहुँचकर यह कवित्त पढ़ा था—

> भट्ट तिलंगाने को बुँदेलखंडवासी कवि
> सुजस प्रकासी पदमाकर सुनामा हौं।
> जोरत कवित्त छंद छप्पय अनेक भाँति
> संसकृत प्राकृत पढ़े जु गुन ग्रामा हौं।
> हय रथ पालकी गयंद गृह ग्राम चारु
> आखर लगाय लेत लाखन को सामा हौं।
> मेरे जान मेरे तुम कान्ह हौ जगतसिंह
> तेरे जान तेरो वह बिप्र हौं सुदामा हौं॥

भारतेंदु जी ने भी एक कवित्त में अपने को सुदामा बनाया है, परंतु वह छंद सच्चे कन्हैया को ही संबोधित करके लिखा गया है, किसी बने या बनाए हुए कन्हैया के प्रति नहीं—

वह द्विजवर हम अधम महान, वह
अति ही संतोषी मैं तो लोभ ही को जामा हौं।
वह श्रुति पढ्यो, महा मूढ़ बुद्धि मेरी, उन
तंदुल दियो, हौं मनहूँ सों निहकामा हौं॥
'हरीचंद' आइ बनो एकै बात दीनानाथ,
यासों मोहिं राखि लेहु जो पै अघ-धामा हौं।
बालपने ही सों सखा मान्यौ है तुमहिं एक
दीन हीन छीन हौं मैं याही सो सुदामा हौं॥

—प्रेमप्रलाप, ६८

एक दूसरे कवित्त में पद्माकर राधा के तिल का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

कैधौं रूप रासि में सिंगार रस अंकुरित
संकुरित कैधौं नभ तड़ित जुन्हाई में।
कहै पद्माकर त्यों किधौं काम कारीगर
नुकता दियो है हेम फरद सुहाई में॥
कैधौं अरविंद में मलिंद सुत सोयो आनि
ऐसो तिल सोहत कपोल की कुनाई में।
कैधौं परयो इंदु में कलिंदि-जल-बिंदु आइ
गरक गुविंद किधौं गोरी की गुराई में॥

भारतेंदु जी ने होली के प्रसंग में कन्हैया के कपोल पर लगे हुए बुक्के का वर्णन किया है—

आजु बृषभानु राय पौरी होरी होय रही
दौरी हैं किसोरी सबै जोबन चढ़ाई मैं।
खेलत गोपाल 'हरिचंद' राधिका के साथ
बुका एक सोहत कपोल की कुनाई मैं॥
कैधौं भयो उदित मयंक नभ बीच कैधौं
हीरा जरयो बीच नीलमनि की जराई मैं।
कैधौं परयो कालिंदी के नीर छीर-बिंदु कैधौं
गरक सु गोरी भई स्याम सुंदराई मैं॥

दोनों वर्णन संदेहालंकार-संपन्न हैं। पहले में राधा के कपोल-स्थित काले तिल का वर्णन है तो दूसरे में कृष्ण के कपोल-स्थित श्वेत बुक्के का। दोनों कवित्तों

के अंतिम चरण आमने-सामने रखकर तुलना करने योग्य हैं। ऐसा लगता है, भारतेंदु ने पद्माकर के कवित्त का जवाब तैयार किया है।

पद्माकर की एक गणिका केलि करके प्रभात काल में उठकर अलसाई हुई अपने छज्जे पर खड़ी है—

आरस सों आरत सँभारत न सीस-पट
गजब गुजारत गरीबन की धार पर।
कहै पदमाकर सुगंध सरसावै सुचि
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर।
छाजति छबीली छिति छहरि छरा के छोर
भोर उठि आई केलि मंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे
एक कर कंज एक कर है किवार पर॥

—जगद्विनोद, १२२

भारतेंदु जी ने भी ठीक ऐसा ही एक चित्र निम्नलिखित कवित्त में अंकित किया है—

आजु केलि मंदिर सों निकसि नवेली ठाढ़ी
भौंर चारों ओर रहे गंध लोभि बार के।
नैन अलसाने घूमैं, पलहु परे हैं भू मैं,
उर मैं प्रगट चिन्ह पिय कंठहार के।
'हरिचंद' सखिन सों केलि की कहानी कहै
रस मैं मसूसी रही आलस निवार के।
साँचे में खरी सी परी सीसी उतरी सी खरी
बाजूबंद बँधै बाजू पकरि किवार के॥

—प्रेममाधुरी, ७३

'कार्तिक-स्नान' के प्रारंभ में दो दोहे हैं—

साधकगन सों तुम सदा, छिपत फिरत ब्रजराय।
अति अँधियारो मम हृदय, तहँा छिपत किन आय॥
चोरि चीर दधि दूध मन, दुरन चहत ब्रजराय।
मेरे हिय अँधियार मैं, तौ न छिपत क्यों आय॥

(दोहा ११, १६)

पद्माकर का भी इसी भाव का एक सवैया 'जगद्विनोद' में 'त्रास' के उदाहरण में दिया गया है—

ऐ ब्रजचंद गोविंद गोपाल सुन्यो न क्यों केते कलाम किये मैं।
त्यों पदमाकर आनँद के नद हौ नँदनंदन जानि लिये मैं।
माखन चोरि कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिये मैं।
दूरि ही दौरि दुरे जो चहौ तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं॥

पद्माकर का सवैया संस्कृत के निम्नलिखित श्लोक का हिंदी रूपांतर है—

क्षीरसारमपहृत्य शङ्कया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया,
मानसे मम नितान्त तामसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे।

संभव है, भारतेंदु जी की दृष्टि में केवल पद्माकर का सवैया रहा हो; बहुत संभव है, सवैया और श्लोक दोनों।

पद्माकर का एक ग्रंथ है 'प्रबोध-पचासा'। इसमें उनके वैराग्य संबंधी एवं विनय संबंधी कुल ५१ कवित्त-सवैए संग्रहीत हैं। भारतेंदु जी ने भी वैराग्य संबंधी ५० छंदों का एक ग्रंथ 'विनय-प्रेम-पचासा' नाम का बनाया है। इन दोनों में केवल नाम और विषय का साम्य है। शैली पूर्णरूपेण भिन्न है और भावों की टकरान भी नहीं है।

भारतेंदु के निबंध

[श्री केसरीनारायण शुक्ल]

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपनी पुस्तक 'काल-चक्र' में संसारप्रसिद्ध घटनाओं का उल्लेख किया है और उनका समय दिया है जैसे—'हिंदी का प्रथम नाटक (नहुष नाटक)—१८५९'; 'हिंदी का प्रथम समाचारपत्र (सुधाकर)—१८५०'; 'काशी में दो महीने का भूकंप—१८३७'। इन्हीं लौकिक तथा अलौकिक, साहित्यिक और साहित्येतर घटनाओं के उल्लेखों के बीच उन्होंने यह भी लिखा कि 'हिंदी नए चाल में ढली—१८७३'। इससे स्पष्ट है कि भारतेंदु हिंदी के नए रूप को इतने असाधारण महत्त्व का समझते थे कि उसे संसारप्रसिद्ध घटनाओं के समकक्ष रखने में उनको कोई संकोच न था।

'नए चाल में ढली हिंदी' के संबंध में भारतेंदु का जीवन-चरित लिखनेवाले एक विद्वान् का कहना है कि उन्होंने इसके साथ 'हरिश्चंद्री (हिंदी)' शब्द भी लिखा था, पर छापनेवालों की असावधानी से वह छूट गया और न छप सका। यदि यह बात सच है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह अपने को हिंदी की नई शैली का प्रवर्त्तक मानते थे और उनका उपर्युक्त कथन दर्पोक्ति है। किंतु जो उस युग के इतिहास से परिचित हैं उनको इसमें गर्व की गंध नहीं मिलती, प्रत्युत उन्हें भारतेंदु का यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है। स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल का निम्न-लिखित कथन इस बात को और भी स्पष्ट करता है—

संवत् १९३० (अर्थात् सन् १८७३) में उन्होंने 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' नाम की मासिक पत्रिका निकाली जिसका नाम ८ संख्याओं के उपरांत 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' हो गया। हिंदी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले-पहल इसी 'चंद्रिका' में प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिंदी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेंदु ने नई सुधरी हुई हिंदी का उदय इसी समय से माना है। उन्होंने 'कालचक्र' नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है कि 'हिंदी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०'। इस हरिश्चंद्री हिंदी के आविर्भाव के साथ ही नए नए लेखक भी तैयार होने लगे।[1]

१—हिंदी साहित्य का इतिहास, आधुनिक गद्य, प्रथम उत्थान, भारतेंदु प्रकरण।

यदि इसके साथ इतना और जोड़ दिया जाता कि नई सुधरी हुई हिंदी का उदय और विकास भारतेंदु के निबंधों से हुआ, तो हिंदी की नवीन गद्य-शैली के मूल स्रोत का भी संकेत मिल जाता।

भारतेंदु के निबंधों का महत्त्व उनके काव्य या नाटकों से कम नहीं, प्रत्युत अधिक ही है। हरिश्चंद्र की रुचि, उनके विचार और उनके व्यक्तित्व के अध्ययन में ये निबंध विशेष रूप से सहायक होते हैं, क्योंकि इनमें काव्य की अतिरंजना कम है और यथार्थता का पुट अधिक है और लेखक को बंधन-विहीन निबंधों में भाव-प्रकाशन, विचाराभिव्यक्ति और मन की तरंगों में बहने का पूरा पूरा अवकाश मिला है। ये निबंध उस युग की सर्वतोमुखी उन्नति और जन-जागर्ति के संवाहक थे। अतः इनका सांस्कृतिक महत्त्व भी बहुत अधिक है। हिंदी का गद्य भी इन्हीं निबंधों के द्वारा परिमार्जित और पुष्ट हुआ और उसमें भाव-वहन की अद्भुत क्षमता आई। इस प्रकार इन निबंधों का भाषा-शैली के विकास की दृष्टि से भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

खेद के साथ लिखना पड़ता है कि भारतेंदु जैसे युग-प्रवर्तक के इतने महत्त्वपूर्ण निबंधों के उद्धार की ओर साहित्यिकों का ध्यान बहुत कम गया। उनके जो निबंध पुस्तकाकार छपे वे अब दुष्प्राप्य हैं; जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे उनमें से कुछ उन पत्र-पत्रिकाओं के साथ लुप्त हो गए और कुछ लुप्तप्राय हैं। भारतेंदुयुग की पत्र-पत्रिकाओं का कोई पूरा संग्रह उपलब्ध नहीं है। जो दो-चार पत्र आदि मिलते हैं उनको भी दीमक चाट रहे हैं। भारतेंदु के निबंधों का संकलन करते हुए जो सामग्री कतिपय विद्वानों और भारतेंदु के प्रेमियों (जिनमें उनके दौहित्र श्री ब्रज-रत्नदास जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है) की सहायता से लेखक को प्राप्त हुई है उसी के आधार पर प्रस्तुत लेख लिखा जा रहा है।

हरिश्चंद्र ने बहुत से निबंध लिखे हैं और बहुत प्रकार के लिखे हैं। इन निबंधों की विविधता और अनेकरूपता उनकी बहुमुखी प्रतिभा के अनुरूप ही है। इसी प्रकार उनके लिखने का प्रयोजन भी अनेक-रूपात्मक है। कुछ निबंध उपादेयता को दृष्टि में रखकर लिखे गए हैं, कुछ ज्ञानवर्धन और शिक्षा के लिये और कुछ शुद्ध अनुरंजन के लिये। इनके अतिरिक्त कुछ में धर्म, समाज, और राजनीति की आलोचना तथा उनपर व्यंग इष्ट है।

इन निबंधों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है। वस्तु-विषय की दृष्टि से ऐतिहासिक, गवेषणात्मक, चारित्रिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक,

यात्रा-संबंधी, प्रकृति-संबंधी, व्यंग तथा हास्यप्रधान एवं आत्मकथा वा आत्मचरित संबंधी निबंधों की कोटियाँ स्थापित की जा सकती हैं। कथन के ढंग तथा निरूपण की दृष्टि से इन्हीं निबंधों को हम तथ्यातथ्य निरूपक, सूचनात्मक या शिक्षात्मक, कल्पनात्मक और वर्णनात्मक कह सकते हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से ये निबंध भारतेंदु की प्रांजल शैली, आलंकारिक शैली, प्रदर्शन शैली, प्रवाह शैली, और वार्त्तालाप शैली के द्योतक या निदर्शक कहे जा सकते हैं। अधिकांश निबंध पत्र-पत्रिकाओं के लिये लिखे गए थे और उन्हीं में छपे थे। समय की गति तथा सामयिक परिस्थिति और उद्देश्य का इन निबंधों के वस्तु-चयन और शैली-निरूपण में बहुत बड़ा हाथ है। इन्हीं दृष्टियों से भारतेंदु के निबंधों की अत्यंत संक्षिप्त आलोचना प्रस्तुत की जा रही है।

भारतेंदु के ऐतिहासिक निबंध इतिहास-समुच्चय के नाम से खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित हुए थे। इनमें 'काश्मीर कुसुम', 'उदयपुरोदय', 'बादशाह दर्पण', 'महाराष्ट्र का इतिहास', 'बूँदी का राजवंश', 'कालचक्र' आदि लेख प्रमुख हैं। 'पुरावृत्त-संग्रह' में भी प्रशस्ति, पुराने शिलालेख आदि की ऐतिहासिक सामग्री का विवेचन किया गया है। इसी में 'अकबर और औरंगजेब' नामक लेख भी है जो बड़ा मनोरंजक है। भारतेंदु की इतिहास-विषयक रुचि के निदर्शन में इन पुस्तकों का नाम प्रायः लिया जाता है।

वास्तव में ये इतिहास-ग्रंथ न होकर इतिहास के ढाँचे हैं जिनमें उसकी स्थूल रूपरेखा मात्र दी गई है। अधिकांश में केवल वंशपरंपरा, राज्यारोहण तथा देहावसान का समयचक्र दिया है। कुछ में राजाओं का वृत्तांत भी है, जिसका आधार परंपरा और जनश्रुति है और जिसका उल्लेख बिना किसी शोध या छानबीन के कर दिया गया है। लेखक में असाधारण तथा आश्चर्यजनक वृत्तांतों के उल्लेख की रुचि विशेष रूप से लक्षित होती है।

ये ऐतिहासिक निबंध न तो अत्यंत विस्तृत हैं और न ये इतिहास-लेखन के उत्कृष्टतम उदाहरण ही कहे जा सकते हैं। फिर भी इनका महत्त्व है, और यह महत्त्व उनकी पूर्णता में न होकर नवीन प्रयास और नई परंपरा के प्रवर्त्तन में है। ये निबंध देश के अतीत के प्रति जनरुचि और उत्सुकता जगाने के लिये लिखे गए थे जिससे देशवासी अपनी प्राचीन गौरव-गाथा का स्मरण कर अपनी वर्त्तमान दयनीय दशा पर आँसू बहाएँ और अपनी उन्नति का उपाय सोचें। शिक्षात्मक महत्त्व के साथ इनका महत्त्व इस बात में भी है कि इनसे भारतेंदु की ऐतिहासिक भावना का पता

लगता है, जो कि उन्नीसवीं शताब्दी की प्रचलित और मान्य ऐतिहासिक भावना के मेल में है।

उन्नीसवीं शताब्दी की ऐतिहासिक भावना आज की भाँति वर्गप्रधान न होकर व्यक्तिप्रधान थी। किसी राजा के जन्म, राजतिलक, उसके युद्ध, जय-पराजय तथा उसके असाधारण कृत्यों और उससे संबंधित घटनाओं के कालक्रमानुसार वर्णन में ही इतिहास की इतिश्री समझी जाती थी। इसी से उस युग के इतिहास-लेखकों की तरह भारतेंदु ने भी राजाओं की वंशावली दी है, उनका राज्यकाल बताया है और कतिपय प्रमुख घटनाओं तक अपने को सीमित रखा है। इन राजनीतिक घटनाओं का सामाजिक अवस्था और युग की अन्य प्रवृत्तियों से क्या संबंध था, इसकी ओर न उस समय के इतिहासकारों का ध्यान था और न भारतेंदु का ही। दूसरे शब्दों में, ऐतिहासिक भावना की जो दुर्बलता या कमी हमें दिखाई पड़ती है वह भारतेंदु की व्यक्तिगत दुर्बलता नहीं है, प्रत्युत उस शताब्दी की सीमित परिधि के परिणामस्वरूप है जिसका अतिक्रमण लेखक न कर सका।

भारतेंदु ने इतिहास को हिंदू की दृष्टि से भी देखा और आँका है, मुसलमानी राज्य के प्रति उनके उद्गार इसके प्रमाण हैं। मुसलमानी राज्य बीत गया था, इसलिये वह अधिक खुलकर कह सके। अँग्रेजी राज्य सिर पर था, इसलिये तनिक दबना पड़ता था। फिर भी उन्होंने अंग्रेजी राज्य के प्रति मार्मिक और कटु व्यंग करने में कसर नहीं रखी। निम्नलिखित कथन इसका संकेत दे रहा है—

> बागबाँ आया गुलिस्ताँ में कि सैयाद आया।
> जो कोई आया मेरी जान को जल्लाद आया॥

किसी ने सच कहा है कि मुसलमानी राज्य हैजे का रोग है और अँग्रेजी क्षयी का...।

इन उद्गारों में भारतेंदु के हृदय की सत्यता, और उनकी मानसिक परिधि की सीमा तथा उनकी शक्ति और दुर्बलता झलक रही है। अप्रिय होने पर भी इतिहास-लेखक की तरह पाठकों को इसे स्वीकार करना चाहिए। भारतेंदु के विचार और व्यक्तित्व की जो झाँकी इनमें मिल रही है वह सुंदर होने के साथ बड़ी उद्बोधक है। इन इतिवृत्तात्मक लेखों (दो एक को छोड़कर) में कोई बड़ी ऊँची साहित्यिक प्रतिभा का आलोक नहीं है, फिर भी अतीत और वर्तमान की आलोचना के द्वारा उन्होंने जनता को जगाने का जो प्रयास किया वह स्तुत्य है।

इन ऐतिहासिक निबंधों के साथ ही भारतेंदु के जीवनचरित-संबंधी लेखों का संक्षिप्त विवेचन समीचीन होगा, क्योंकि दोनों के मूल में एक ही प्रकार की भावना काम कर रही है। 'चरितावली' और 'पंचपवित्रात्मा' में कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के जीवनचरित संगृहीत हैं। इनके लेखन में भी उन्नीसवीं शती की व्यक्तिवादी भावना काम कर रही है। फिर भी ये लेख चरित्रप्रधान न होकर घटनाप्रधान हैं; इन जीवनवृत्तों में सुनी-सुनाई बातों और घटनाओं का वर्णन अधिक है और हृदय की वृत्तियों के दिग्दर्शन का प्रयास कम। इन जीवनियों के चुनाव का आधार उनका असाधारणत्व या असामान्यता है—चाहे वह असामान्यता आध्यात्मिक हो या धन, ऐश्वर्य, वंश या पद का असाधारणत्व हो। लेखक का मन भी उन कथाओं और घटनाओं के वर्णन में अधिक रमा है जिनमें कोई असाधारणता थी। भारतेंदु ने अपने चरित-नायकों का वर्णन करते हुए कहीं तो नैतिकता का पाठ पढ़ाया है, कहीं अलौकिक चमत्कार से चकित हुए हैं और कहीं वे स्वयं भावुक होकर संसार की क्षणभंगुरता को दार्शनिक भावधारा में बह गए हैं। किंतु उन्होंने अपने चरित-नायक को युगपरिस्थिति के बीच रखकर उसपर पड़नेवाले प्रभाव का दिग्दर्शन नहीं कराया। इसका कारण भी उन्नीसवीं शताब्दी है जो व्यक्ति को युग की प्रवृत्तियों का प्रतीक न मानकर इतिहास का निर्माता समझती थी। व्यक्ति को इतिहास-निर्माता की पदवी दिलानेवाले कार्यों के पीछे युग की जन-परिस्थिति का कितना बड़ा हाथ छिपा रहता है, इसकी ओर न उन्नीसवीं शती का ध्यान था और न उसमें रहनेवाले भारतेंदु का। इसी से भारतेंदु ने नैपोलियन के बीते वैभव का गान तो किया, किंतु उस समय के प्रगतिशील आंदोलनों के बीच उसका क्या स्थान था, इसका कोई उल्लेख न किया। इसी प्रकार लार्ड मेयो की हत्या करनेवाले शेरअली को उन्होंने व्यक्तिगत हत्यारे के रूप में ग्रहण किया। इस समय मुसलमानों के बीच सरकार के विरुद्ध जो 'जिहाद' की बात चल रही थी, उसकी ओर उनका ध्यान न गया और उन्होंने उससे शेरअली का संबंध न जोड़ा। शेरअली का यह कृत्य व्यक्ति की हत्या द्वारा सरकार की हत्या (या उसे अपदस्थ करने) का प्रयत्न था।

जीवनचरित संबंधी लेखों में पूरी पूरी रोचकता और साहित्यिकता है। इनमें भावों की विदग्धता और मार्मिकता है। भारतेंदु की विविध शैलियों के दर्शन इन लेखों में मिलते हैं।

भारतेंदु का अपने धर्म से तो पूरा परिचय था ही, अन्य धर्मों से भी वे अपरिचित न थे। ईसाई मत और मुसलमानी मत दोनों का उनको सम्यक् ज्ञान

था। 'ईशू खृष्ट और ईश कृष्ण' तथा 'हिंदी कुरान शरीफ' इसी के परिणामस्वरूप लिखे गए। आर्यसमाज तथा थियासॉफिष्ट आंदोलन और उनके प्रवर्त्तकों के संपर्क में भी ये रह चुके थे। इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों से वे पूर्णतया अवगत थे और उनमें उनकी पूरी रुचि थी। अपने धर्म के प्रति अचल विश्वास रखते हुए भी वे अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु न थे। उनमें भाव-स्वातंत्र्य और धार्मिक उदारता दोनों थीं। इसके साथ ही वे अपने संप्रदाय की उपासना-पद्धति, रीति-नियम और परंपरा का पूरा पूरा पालन आस्था से करते थे। इसी प्रकार समाज-सुधार के वे पूरे समर्थक थे। अंध-विश्वास की हँसी उड़ाने की हिम्मत भी उनमें थी और वे निर्भीकता से अपने विचारों को प्रकट कर सकते थे। 'वैष्णवता और भारतवर्ष' इन सब बातों का बड़ा सुंदर निदर्शन है। भारतेंदु को अपने समय की कितनी सच्ची परख थी और वे प्रगति के पथ पर कितने आगे बढ़े हुए थे, इसका पूरा पूरा पता इस निबंध से लगता है। इस संबंध में इस लेख से एक छोटा सा उद्धरण अनुपयुक्त न होगा—

विदेशी शिक्षाओं से मनोवृत्ति बदल गई···। जब पेट भर खाने ही को न मिलेगा तो धर्म कहाँ बाकी रहेगा, इससे जीवमात्र के सहज धर्म उदरपूरण पर अब ध्यान दीजिये। ···अब महाघोर काल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है···कदाचित् ब्राह्मण और गोसाईं लोग कहें कि हमको तो मुफ्त का मिलता है, हमको क्या? इसपर हम कहते हैं कि विशेष उन्हीं का रोना है। जो कराल काल चला आता है उसको आँख खोल कर देखो····।

भारतेंदु की प्रगतिशीलता और उसके स्वरूप के अध्ययन के लिये यह निबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

अब भारतेंदु के उपादेय या शिक्षात्मक निबंधों की संक्षिप्त चर्चा करके उन निबंधों का विवेचन किया जायगा जो शुद्ध साहित्य की कोटि में आते हैं। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये साहित्यिक निबंध उद्देश्यविहीन हैं, या निरर्थक हैं। 'संगीतसार', 'बलिया का व्याख्यान' (भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है), 'उत्सवावली' आदि लेखों को उपादेय निबंधों की कोटि में रखा जा सकता है। इनका प्रधान उद्देश्य शिक्षा देना और ज्ञानवर्धन है। 'संगीतसार' में भारतीय संगीत का पूरा पूरा निरूपण हुआ है। उत्सवावली में कृष्ण-संप्रदाय के उत्सवों की गिनती गिनाई गई है और 'बलिया व्याख्यान' में देशोन्नति के उपायों पर विचार प्रकट किए

गए हैं। लेखक की प्रकृति के अनुरूप बीच बीच में व्यंग के छींटे और चुटकुले हैं जो व्याख्यान को बड़ा मनोरंजक बना देते हैं और बताते हैं कि भारतेंदु का भाषण बड़ा सफल हुआ होगा।

भारतेंदु के साहित्यिक कोटि में आनेवाले निबंध पर्याप्त संख्या में मिलते हैं, इनमें वस्तुविषय, वर्णन तथा भाषा-शैली की विविधता और अनेकरूपता मिलती है। एक ही लेख में कई प्रकार के वर्णन और भाषा-शैली की छटा दिखाई पड़ती है। भारतेंदु की विदग्धता, मार्मिकता, सजीवता और क्षमता का परिचय इन्हीं लेखों से मिलता है। उनके यात्रा-संबंधी लेख, व्यंग तथा हास्यप्रधान लेख इसी कोटि में आते हैं। भारतेंदु के जीवनचरित्रों की चर्चा पहले की जा चुकी है। उनकी आत्मकथा अपूर्ण है; फिर भी जो अंश प्राप्त है वह अत्यंत मार्मिक है।

भारतेंदु ने अपने जीवनकाल में कई यात्राएँ कीं और उनमें से कुछ का सविस्तार वर्णन लिखा। उनकी उदयपुर की यात्रा, सरयूपार की यात्रा, जनकपुर की यात्रा तथा वैद्यनाथ की यात्रा के लेख प्रसिद्ध हैं। लखनऊ और हरिद्वार की यात्रा का वृत्तांत उन्होंने 'यात्री' के नाम से 'कविवचनसुधा' में छपाया।

इन यात्रा-संबंधी लेखों में भारतेंदु का स्वच्छंद और अकृत्रिम स्वरूप खूब देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेंदु सब प्रतिबंधों को हटाकर घूमने निकले हैं, और इसी प्रकार उनकी प्रतिभा और वाणी भी स्वच्छंद विचरण कर रही है। उनकी आँखें सब कुछ देखने को खुली हैं, उनके कान सब कुछ सुन रहे हैं, उनका विवेचनशील मस्तिष्क सतत जागरूक है, और उनका संवेदनशील हृदय उन सब दृश्यों और वस्तुओं को ग्रहण करता है जिनमें वह रम सका है। हृदय की प्रेरणा के अनुरूप ही वे कभी उल्लास से भर जाते हैं, कभी आश्चर्यचकित होते हैं, कभी अतीत की स्मृति में डूब जाते हैं। कभी किसी रीति-नीति का वर्णन करते हैं (और अपना निर्णय देते हैं), कभी कथाएँ और चुटकुले कहते हैं, कभी प्रकृति के दृश्यों को देखकर मुग्ध होते हैं, और कभी वे व्यंग के हलके-गहरे छींटे उड़ाते चलते हैं। इसी प्रकार उनकी वाणी भी कहीं अकृत्रिम और अलंकृत रूप में प्रकट हुई है, कहीं उसका चलता हुआ प्रतिबंधविहीन और स्वच्छंद प्रवाहपूर्ण रूप सामने आता है, कहीं बड़ी सधी-सधाई और अलंकृत भाषा देखने को मिलती है। संक्षेप में इन यात्रा-संबंधी लेखों में भाव और भाषा दोनों के विविधात्मक और स्वच्छंद रूप देखने को मिलते हैं।

यात्रा के लेख अधिकांश में वर्णनात्मक हैं और उनमें 'हरिद्वार' शीर्षक लेख के आरंभ में भारतेंदु चमत्कारी कार्यों का वर्णन बड़े उल्लास के साथ इन शब्दों में करते हैं और आश्चर्य में डूब जाते हैं—

इसमें दो तीन वस्तु देखने योग्य हैं एक तो (कारीगरी) शिल्पविद्या का बड़ा कारखाना जिसमें जलचक्की पवनचक्की और भी कई बड़े-बड़े चक्र अनवर्त खचक्र में सूर्य चन्द्र पृथ्वी मंगल आदि ग्रहों को भांति फिरा करते हैं और बड़ी-बड़ी धरन ऐसी सहज में चिर जाती हैं कि देखकर आश्चर्य होता है—यहां सबसे आश्चर्य श्री गंगा जी की नहर है। पुल के ऊपर से तो नहर बहती है और नीचे नदी बहती है। यह एक बड़े आश्चर्य का स्थान है— ![२]

इसी प्रकार इस लेख के अंत में वे धार्मिक भावना से कुछ भावुक बन जाते हैं—

मेरा तो चित्त वहाँ जाते ही ऐसा प्रसन्न और निर्म्मल हुआ कि वर्णन के बाहर है यह ऐसी पुण्यभूमि है कि यहां की घास भी ऐसी सुगंधमय है। निदान यहां जो कुछ है अपूर्व्व है और यह भूमि साक्षात् विरागमय साधुओं और विरक्तों के सेवन योग्य है और सम्पादक महाशय मैं चित्त से तो अब तक वहीं निवास करता हूँ और अपने वर्णन द्वारा आपके पाठकों को इस पुण्यभूमि का वृत्तान्त विदित करके मौनावलम्बन करता हूँ····।[३]

इसी प्रकार सरयूपार की यात्रा में अयोध्या की स्मृतिमात्र उनको उसके अतीत वैभव के भावलोक में पहुँचा देती है और वे दुख से कह उठते हैं कि—

····फिर अयोध्या की याद आई कि हा! यह वही अयोध्या है जो भारतवर्ष में सबसे पहिले राजधानी बनाई गई·····संसार में इसी अयोध्या का प्रताप किसी दिन व्याप्त था और सारे संसार के राजा लोग इसी अयोध्या की कृपाण से किसी दिन दबते थे वही अयोध्या अब देखी नहीं जाती····।[४]

यात्रा के बीच मार्ग में खुली प्रकृति के दर्शन अत्यंत स्वाभाविक हैं। भारतेंदु का कवि-हृदय प्रकृति के स्वागत को सदा तैयार रहता था। इसीसे उनके इस प्रकार के लेखों में प्रकृति के वर्णन अनेक ढंग के मिलते हैं। भारतेंदु ने प्रकृति पर एक स्वतंत्र लेख भी लिखा है, उसका नाम है "ग्रीष्म ऋतु"।

'वैद्यनाथ की यात्रा' उनके प्रकृति-प्रेम का अच्छा परिचय देती है और बहुत से विद्वानों के इस कथन का खंडन करती है कि भारतेंदु को प्रकृति से सच्चा प्रेम

२—कविवचनसुधा, ३० अप्रैल सन् १८७१ (खंड ३ नंबर १) पृष्ठ १०
३—कविवचनसुधा, १४ अक्टूबर १८७१, खंड ३ नंबर ४, पृष्ठ ३५
४—हरिश्चंद्र चंद्रिका, खंड ६ नंबर ८, फरवरी १८७६, पृष्ठ ११–२०

न था और उनके वर्णन कृत्रिम तथा परंपराग्रस्त एवं रूढ़ होते हैं। भारतेंदु ने प्रकृति का यथातथ्य चित्रात्मक, संवेदनात्मक तथा आलंकारिक, सभी प्रकार का वर्णन किया है। स्थानाभाव से यहाँ पर केवल एक ही उद्धरण दिया जाता है जिससे भारतेंदु का प्रकृति-प्रेम स्पष्ट हो जायगा--

ठंढी हवा मन की कली खिलाती हुई बहने लगी० दूर से धानी और काही रंग के पर्वतों पर सुनहरापन आ चला० कहीं आधे पर्वत बादलों से घिरे हुए, कहीं एक साथ वाष्प निकलने से उनकी चोटियां छिपी हुई और कहीं चारों ओर से उनपर जलधारा पात से बुक्के की होली खेलते हुए बड़े ही सुहाने मालूम पड़ते थे...... ।[५]

ये यात्रा-विषयक लेख भारतेंदु के उल्लास, हास्य और व्यंग के पुट से सजीव हैं। बीच बीच में मार्मिक चुटकुलों का समावेश भारतेंदु की विशेषता है। इसी प्रकार वे मीठी चुटकियाँ लेते हुए और व्यंग कसते हुए अपने लेख की मनोरंजकता बराबर बनाए रखते हैं। ट्रेन की शिकायत करते हुए और अँगरेजों की धाँधली पर क्षोभ प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि

गाड़ी भी ऐसी टूटी फूटी जैसे हिंदुओं की किस्मत और हिम्मत०......अब तो तपस्या करके गोरी गोरी कोख से जन्म लें तब संसार में सुख मिले०...... ।[६]

दूसरा व्यंग कुछ अधिक तीव्र और कटु है—

महाजन एक यहां हैं वह टूटे खपड़े में बैठे थे० तारीफ यह सुना कि साल भर में दो बार कैद होते हैं क्योंकि महाजन पर जाल करना फर्ज है और उसको भी छिपाने का शऊर नहीं...... ।[७]

यों तो व्यंग और हास्य की छटा उनकी अधिकांश गद्य-कृतियों में यत्र-तत्र देखने को मिलती है, फिर भी उनके कुछ लेख हास्य और व्यंग की दृष्टि से ही लिखे गए हैं। इन हास्यप्रधान लेखों का उद्देश्य शुद्ध हास्य का सर्जन, आलोचना, आक्षेप, व्यंग, परिहास सभी कुछ है। व्यक्ति, समाज, राजनीति सभी व्यंग के विषय बनाए गए हैं। भारतेंदु में शुद्ध हास्य अपेक्षाकृत कम है और उनका व्यंग बड़ा

५—हरिश्चंद्रचंद्रिका और मोहनचंद्रिका, खंड ७ संख्या ४, आषाढ़ शुक्ल १ संवत् १९३७।

६—वही।

७—हरिश्चंद्रचंद्रिका, खंड ६ नंबर ८, फरवरी १८७९ पृष्ठ १५।

मार्मिक और प्रायः बड़ा कटु होता है। उनके इस प्रकार के लेखों में 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'ज्ञातिविवेकिनी सभा', 'लेवी प्राण लेवी', 'पाँचवें पैगंबर', 'कंकड़-स्तोत्र', 'अँगरेज-स्तोत्र' आदि मुख्य हैं। इनमें 'कंकड़-स्तोत्र' शुद्ध हास्य का सर्जन करने वाला है। उसके मूल में क्षोभ नहीं है। सड़क के बीच और किनारे पड़े हुए कंकड़ों की महिमा भारतेंदु के शब्दों में ही सुनिए—

कङ्कड़ देव को प्रणाम है॰ देव नहीं महादेव क्योंकि काशी के कङ्कड़ शिवशंकर समान हैं।

हे लीलाकारिन्! आप केशी, शकट, वृषभ, खरादि के नाशक हौ इससे मानो पूर्वार्द्ध की कथा हो अतएव व्यासों की जीविका हौ।

आप वानप्रस्थ हौ क्योंकि जंगलों में लुढ़कते हौ, ब्रह्मचारी हौ क्योंकि बटु हौ गृहस्थ हौ चूना रूप से, संन्यासी हौ क्योंकि घुट्टमघुट्ट हौ।

आप अंगरेजी राज्य में भी···गणेश चतुर्थी की रात को स्वच्छंद रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पर पड़कर रुधिर धारा से नियम और शांति का अस्तित्व बहा देते हौ अतएव हे अंगरेजी राज्य में नवाबी स्थापक! तुमको नमस्कार है। ८

'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' भी इसी प्रकार का कल्पनात्मक लेख है। इसमें भी हास्य प्रधान है और व्यंग दबा हुआ और बड़ा सूक्ष्म तथा हलका है। केशवचंद्र सेन और स्वामी दयानंद के स्वर्ग जाने से वहाँ बड़ा आंदोलन उठ खड़ा हुआ। कोई इनसे घृणा करता और कोई इनकी प्रशंसा करता। स्वर्ग में भी तो दलबंदी है; इसका हाल भारतेंदु के शब्दों में सुनिए—

स्वर्ग में कंसरवेटिव और लिबरल दो दल हैं, जो पुराने जमाने के ऋषी मुनी यज्ञ कर करके···या कर्म में पच पचकर स्वर्ग गए हैं उनके आत्मा का दल कंसरवेटिव है, और जो अपनी आत्मा ही को उन्नति से वा अन्य किसी सार्वजनिक भाव उच्च भाव संपादन करने से···स्वर्ग में गए हैं वे लिबरल दल भक्त हैं···बिचारे बूढ़े व्यासदेव को दोनों दल के लोग पकड़ पकड़ कर ले जाते और अपनी अपनी सभा का 'चेयरमैन' बनाते और बिचारे व्यासजी भी अपने प्राचीन अव्यवस्थित स्वभाव और शील के कारण जिसकी सभा में जाते थे वैसी ही वक्तृता कर देते थे···।

८—कंकड़स्तोत्र, पृष्ठ ८-११

निदान एक डेपुटेशन ईश्वर के पास गया। ईश्वर अत्यंत कुपित है। उसकी झल्लाहट में जो सूक्ष्म व्यंग छिपा हुआ है उसपर ध्यान दीजिए—

बाबा अब तो तुम लोगों को 'सेल्फ गवर्नमेंट' है। अब कौन हमको पूछता है। …हम तो केवल अदालत या व्यवहार या स्त्रियों के शपथ खाने को हो मिलाए जाते हैं। किसी को हमारी डर है। …भूत प्रेत ताजिया के इतना भी तो हमारा दर्जा नहीं बचा…क्या हम अपने बिचारे जय विजय को फिर राक्षस बनवावें कि किसी का रोक टोक करें…तुम जानो स्वर्ग जाने…।[9]

'ज्ञातिविवेकिनी सभा' में सामाजिक व्यंग है। बालशास्त्री ने कायस्थों के बारे में व्यवस्था देकर उनको उच्च वर्ण का बताया था, इसी से भारतेंदु ने यह व्यंगपूर्ण लेख लिखा। इसमें श्रीविपिनराम शास्त्री काशी के पंडितों से गड़रियों को क्षत्रिय बनने की व्यवस्था देने की बात कह रहे हैं। व्यंग बड़ा कटु और स्पष्ट है—

…अरे भाइयो यह बड़े सोच की बात है कि हमारे जीते जी यह हमारे जन्म के यजमान जो सब प्रकार से हमें मानते दानते हैं नीच के नीच बने रहें तो हमारी जिन्दगी को धिक्कार है। कोई वर्ष ऐसा नहीं होता कि इन बिचारों से दस-बीस मेढ़ा, बकरा और कमरी आसनादि वस्तु और सोधा पैसा न मिलता होय।…हमको आशा है कि आप सब हमारी सम्मति से मेल करेंगे, क्योंकि आज को हमारी कल की तुम्हारी।…रह गई पाण्डित्य सो उसे आजकल कौन पूछता है गिनती में नाम अधिक होने चाहिएँ।[10]

'लेवी प्राण लेवी' में राजनीतिक आक्षेप है और उन रईसों पर व्यंग है जो लार्ड मेयो के दरबार में आए थे। उनकी अव्यवस्था और भीरुता पर कटाक्ष है। अंत के वाक्य में उनका उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट हो गया है—

लार्ड साहिब को "लेवी" समझकर कपड़े भी सब लोग अच्छे अच्छे पहिनकर आए थे पर वे सब उस गरमी में बड़े दुखदाई हो गए। जामे वाले गरमी के मारे जामे के बाहर हुए जाते थे, पगड़ीवालों की पगड़ी सिर की बोझ सी हो रही थी और दुशाले और कमखाब की चपकनवालों को गरमी ने अच्छी भांति जीत रक्खा था…

…सब लोग उस बंदीगृह से छूटछूटकर अपने घर आए। रईसों के नंबर की यह दशा थी कि आगे के पीछे पीछे के आगे अंधेर नगरी हो रही थी बनारसवालों को न इस बात का

९—स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन।

१०—कविवचनसुधा, खंड ८ संख्या १६, ११ दिसंबर १८७६

ध्यान कभी रहा है और न रहेगा ये बिचारे तो मोम की नाव हैं चाहे जिधर फेर दो। राम—पश्चिमोत्तर देशवासी कब कायरपन छोड़ैंगे और कब इनकी उन्नति होगी···।[११]

'पाँचवाँ पैगंबर' में उस समय की स्थिति पर व्यंग है। अँगरेजियत के बढ़ते हुए रंग और कट्टरपन, अंधविश्वास तथा कुरीतियों पर छींटे कसे गए हैं। इसमें व्यंग विद्रूप हो गया है और एक स्थान पर अश्लीलता की झलक आ गई है। इसमें जो भविष्यवाणी की गई है उसमें अत्यधिक कटुता और घोर निराशा भरी है। कहीं कहीं पर यह भी नहीं स्पष्ट होता कि भारतेंदु स्वयं क्या चाहते हैं—

देखो शराब पियो, विधवा विवाह करो, बाल पाठशाला करो, आगे से लेने जाओ, बाल्य विवाह उठाओ, जाति भेद मिटाओ, कुलीन का कुल सत्यानाश में मिलाओ, होटल में लव करना सीखो, स्पीच दो, क्रिकेट खेलो, शादी में खर्च कम करो, मेम्बर बनो, दरबारदारी करो, पूजापत्री करो, चुस्त चालाक बनो, हम नहीं जानने को टुम नहीं जानता कहो···नाच बाल थियेटर अंटा गुड़गुड़ बंक प्रिवी सिवी में जाओ···।

इस उद्धरण से यह नहीं स्पष्ट होता कि क्या स्वीकार किया जाय और क्या छोड़ा जाय।

हास्य और व्यंग के साथ भारतेंदु के लेखों में एक प्रकार की सजीवता और जिंदादिली है जो उद्धरणों से नहीं स्पष्ट की जा सकती। शरीर में आत्मा की तरह यह उल्लास और सजीवता इनके सभी लेखों में व्याप्त है और उसका अनुभव पूरे लेख को पढ़ने से ही हो सकता है।

भारतेंदु के आत्मचरित संबंधी लेख का उदाहरण उनकी आत्मकथा का अपूर्ण अंश है। यदि उनकी आत्मकथा 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' पूरी हो जाती तो हिंदी साहित्य को आत्मकथा का सुंदर निदर्शन प्राप्त हो जाता। इसका 'प्रथम खेल' ही लिखा जा सका। इसमें भारतेंदु ने अपने चारों ओर के वातावरण का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है और अपनी पैनी दृष्टि और परख का परिचय दिया है। मानव प्रकृति को पहचानने में वे कितने पटु थे और उसकी अभिव्यक्ति में कितने कुशल थे इसका उत्कृष्टतम उदाहरण उनकी आत्मकथा है। 'रसकाई' में मस्त भारतेंदु अपने चारों ओर के वातावरण का (छोटे छोटे शब्द और शब्दसमूह के द्वारा) समा बाँध रहे हैं और अपना हृदय खोलकर सामने रख रहे हैं। निम्नलिखित शब्दों में उनका 'कनफेशन' है—

११—कविवचनसुधा, खंड २ नंबर ५, कार्तिक शुक्ल १५ संवत् १९२७

सं० १६३० में जब मैं तेईस वर्ष का था, एक दिन खिड़की पर बैठा था, बसन्त ऋतु हवा ठंढी चलती थी। सांझ फूली हुई, आकाश में एक ओर चंद्रमा दूसरी ओर सूर्य, पर दोनों लाल लाल, अजब समां बंधा हुआ। कसेरू गंडेरी और फूल बेचनेवाले सड़क पर पुकार रहे थे। मैं भी जवानी के उमंगों में चूर, जमाने के ऊँच नीच से बेखबर, अपनी रसकाई के नसे में मस्त, दुनिया के मुफ्तखोरे सिफारशियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था, पर इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली भांति पहचानता था।[१२]

अब नौकरों की प्रकृति और स्वभाव का चित्रण देखिए—

यह तो दीवानखाने का हाल हुआ अब सीढ़ी का तमाशा देखिए।...हाय रुपया सबकी जबान पर...कोई रंडी के भड़ुए से लड़ता है, रुपये में दो आना न दोगे तो सरकार से ऐसी बुराई करेंगे कि फिर बीबी का इस दरबार में दरशन भी दुर्लभ हो जायगा, कोई बजाज से कहता है कि वह काली बनात हमें न ओढ़ाओगे तो बरसों पड़े झूलोगे रुपये के नाम खाक भी न मिलेगी। कोई दलाल से अलग सट्टा बट्टा लगा रहा है, कोई इस बात पर चूर है कि मालिक का हमसे बढ़कर कोई भेदी नहीं...।[१३]

भारतेंदु के जीवन का यह अधूरा पृष्ठ न जाने कितनी बातें बता रहा है। उनके व्यक्तित्व, उनके अंतरंग जीवन और उनके चारों ओर के वातावरण की जो झाँकी इतने सहज और अकृत्रिम में शब्दों में मिल रही है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस कारण भारतेंदु की आत्मकथा के इस 'प्रथम खेल' का भाषा, भाव आदि सभी दृष्टियों से महत्त्व है।

भारतेंदु की भाषा-शैली के विषय में कुछ लिखने के पूर्व उनके एक विचारात्मक लेख की चर्चा आवश्यक है। इसकी लिपि तो नागरी है, किंतु भाषा उर्दू है। लेख का शीर्षक है "खुशी"। इसमें भारतेंदु ने खुशी के स्वरूप, भेद आदि का विवेचन विस्तार के साथ क्लिष्ट उर्दू में किया है। फारसी के शब्दों की भरमार है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके द्वारा भारतेंदु अपने उर्दू-ज्ञान का प्रदर्शन करना चाहते थे। इसके स्वरूप आदि का विवेचन करते हुए उन्होंने उन कारणों की छानबीन का प्रयत्न भी किया है जिनके कारण हिंदू खुशी से वंचित हैं और संसार के उन्नतिशील देशों की खुशी का प्याला लबालब भरा है। देश-चिंता ने यहाँ भी भारतेंदु

१२—'एक कहानी आप बीती जग बीती'—कविवचनसुधा, भाग ८ संख्या २२ वैशाख कृष्ण ४ संवत् १६३३

१३—वही।

का पीछा न छोड़ा। भाषा और भाव के परिचय के लिये एक छोटा सा उद्धरण दिया जा रहा है—

हर दिल ख्वाह आमूदगी को खुशी कह सकते हैं याने जो हमारे दिल की ख्वाहिश हो वह कोशिश करने से या इत्तिफ़ाक़िय: और कोशिश किए बर आवे तो हमको खुशी हासिल होती है···।

अब हम इस बात पर ग़ौर किया चाहते हैं कि यह असली खुशी हिंदुओं को क्यों नहीं हासिल होती क्योंकि जब हम इसी खुशी के अपनी पूरी बलंदी की हद पर सूरत से कामिल देखना चाहते तो हमेशः ग़ैर क़ौमों में पाते हैं···।[१४]

भारतेंदु के निबंधों के भेद, स्वरूप और उनके भावपक्ष का विवेचन करने के बाद उनके निरूपण के ढंग और उनकी भाषा-शैली का संक्षिप्त पर्यालोचन भी आवश्यक है। यह पहले कहा जा चुका है कि निरूपण के ढंग के अनुसार उनके निबंधों की तथ्यातथ्यनिरूपक, शिक्षात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक और कल्पनात्मक कोटियाँ बनाई जा सकती हैं। निरूपण के ढंग का निबंधों की भाषा-शैली पर भी प्रभाव पड़ा है। जैसे तथ्यातथ्यनिरूपक, शिक्षात्मक तथा उपादेय लेखों की भाषा-शैली में लेखक का ध्यान वस्तु-विषय के स्पष्टीकरण और प्रतिपादन की ओर अधिक है और वाणी की वक्रता या वाणी के विलास की ओर कम है। इसी से भारतेंदु के इस प्रकार के लेखों में (जैसे ऐतिहासिक, 'संगीतसार', गवेषणात्मक) भाषा संस्कृत या तत्सम पदावली से समन्वित तो अवश्य है, किंतु उसमें अतिरंजना या अलंकरण नहीं है। इन लेखों को हम भारतेंदु की प्रांजल या प्रसादपूर्ण शैली का उदाहरण कह सकते हैं, इनमें अलंकरण या अतिरंजना या भाषा की मार्मिकता उन्हीं कतिपय स्थलों पर देखने को मिलती है जहाँ लेखक किसी प्रबल भाव से आक्रांत होकर भावुक बन जाता है।

भारतेंदु की शैलियों के संबंध में उनकी 'प्रदर्शन शैली' का नाम लिया जा चुका है। जहाँ बिना किसी प्रयोजन के, या किसी गूढ़ भाव या क्लिष्ट विचार की अभिव्यक्ति की विवशता उपस्थित हुए बिना ही, जानबूझकर भाषा के चलते रूप को छोड़कर अत्यधिक तत्समप्रधान पदावली का प्रयोग हुआ है, वहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतेंदु अपने भाषाधिकार का प्रदर्शन करना चाहते हैं। इस प्रकार की भाषा या पद-विन्यास को 'प्रदर्शन शैली' नाम दिया गया है। 'उदयपुरोदय' नामक निबंध

१४—"खुशी", खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर पटना।

से दो उद्धरण इस शैली को स्पष्ट करने के लिये दिए जा रहे हैं—

जन समागम से जोगी का ध्यान भंग हुआ, बाप्पा का परिचय जिज्ञासा करने से बाप्पा ने आत्म-वृत्तांत जहाँ तक अवगत थे विदित किया, योगी के आशीर्वाद ग्रहणान्तर उस दिन गृह में प्रत्यागत भए। अतः पर बाप्पा प्रत्यह एक बार योगी के निकट गमन करके उनका पाद प्रक्षालन, पानार्थ पयःप्रदान और शिवप्रीतिकाम होकर धतूरा अर्क प्रभृति शिव-प्रिय वन-पुष्प-समूह चयन किया करते थे।[15]

समर में विपक्षगण ने पराजित होकर पलायन किया। बाप्पा ने सरदारगण के साथ चित्तौर में प्रत्यागत न होकर स्वीय पैत्रिक राजधानी गाजनी नगर में गमन किया।...बाप्पा ने सलीम को दूरीभूत करके वहाँ का सिंहासन जनैक चौर वंशीय राजपूत को दिया...जातरोप सरदारगण ने चित्तौर राजा के साथ बैर निर्यातन में कृत संकल्प होकर सबने एक वाक्य होकर नगर परित्याग करके अन्यत्र गमन किया, राजा ने उन लोगों के साथ संधि करने के मानस से बारंबार दूतप्रेरण किया, किंतु किसी प्रकार सरदारगण का क्रोध शांत नहीं हुआ...।[16]

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि न तो इसी लेख में सर्वत्र इस 'प्रदर्शन शैली' का व्यवहार हुआ है और न अन्यत्र ही इसका बाहुल्य है। इसे उनके मन की मौज ही कहना चाहिए, यद्यपि तथ्यनिरूपक लेखों में ही अधिकतर इसके दर्शन होते हैं।

भारतेंदु की शैलियों के विविध प्रयोग उनके वर्णनात्मक और व्यंगात्मक निबंधों में देखने को मिलते हैं। उनकी आलंकारिक शैली और प्रवाह शैली के दर्शन भी यहीं होते हैं। प्रत्येक परिस्थिति, पात्र और भाव के अनुरूप अभिव्यंजन की क्षमता उनमें पूरी पूरी थी। इसीसे उनके निबंधों में कहीं चलती भाषा की छटा दिखाई पड़ती है, कहीं मुहावरों की बंदिश है और कहीं शब्द क्रीड़ा या चमत्कार की प्रवृत्ति है।

इन वर्णनात्मक लेखों में भी दो प्रकार का पदविन्यास देखने को मिलता है। कहीं पर तो संस्कृत की तत्सम पदावली अधिक प्रयुक्त हुई है और कहीं पर उर्दू का शब्दसमूह अपने चलते और अलंकृत दोनों रूपों में प्रयुक्त हुआ है। हरिद्वार के निम्नलिखित वर्णन की आलंकारिक शैली का पदविन्यास संस्कृत-समन्वित है—

१५—उदयपुरोदय, पृष्ठ २७

१६—वही, पृष्ठ ३१

यह भूमि तीन ओर सुंदर हरे हरे पर्वतों से घिरी है जिन पर्वतों पर अनेक प्रकार की वल्ली हरी-भरी सज्जनों के शुभ मनोरथों की भाँति फैलकर लहलहा रही है और बड़े बड़े वृक्ष भी ऐसे खड़े हैं मानो एक पैर से खड़े तपस्या करते हैं···अहा ! इनके जन्म भी धन्य हैं जिनसे अर्थी विमुख जाते ही नहीं···एक ओर त्रिभुवनपावनी श्री गंगाजी की पवित्र धार बहती है जो राजा भगीरथ के उज्ज्वल कीर्ति की लता सी दिखाई देती है··· ।[१७]

अब उनकी उर्दूमिश्रित पदावली की छटा निम्नलिखित उद्धरण में देखिए—

चारों ओर हरी हरी घास का फर्श० ऊपर रंग रंग के बादल० गड्ढों में पानी भरा हुआ० सब कुछ सुंदर···सांझ को बक्सर पहुँचे० बक्सर के आगे बड़ा भारी मैदान पर सब्ज काशानी मखमल से मढ़ा हुआ···झपकी का आना था कि बौछारों ने छेड़-छाड़ करनी शुरू की० राह में आज पेड़ों में इतने जुगनू लिपटे हुए थे कि पेड़ सचमुच 'सर्वे चिरागां' बन रहे थे ····· ।[१८]

इस उद्धरण में उर्दू पदावली का संमिश्रण अवश्य हुआ है, किंतु किसी प्रकार की जटिलता नहीं आने पाई है ।

अब उनकी 'प्रवाह' शैली का एक नमूना देखिए । इसके वाक्य छोटे होते हैं और पदसमूह में उर्दू, अंग्रेजी सभी के शब्द व्यवहृत होते हैं । उनके दो चार व्यंगात्मक लेखों में भी इसके दर्शन होते हैं । निम्नलिखित उद्धरण की उर्दू पदावली पर फारसी का रंग कुछ अधिक है—

कल सांझ को चिराग जले रेल पर सवार हुए० यह गए वह गए० राह में स्टेशनों पर बड़ी भीड़० न जानें क्यों ? और मजा यह कि पानी कहीं नहीं मिलता था० यह कंपनी मजीद के खांदान की मालूम होती है कि ईमानदारों को पानी तक नहीं देनी० या सिप्रस का टापू सर्कार के हाथ में आने से और शाम में सर्कार का बंदोबस्त होने से यहाँ भी शामत का मारा शामी तरीका अख्तियार किया गया कि शाम तक किसी को पानी न मिले ।[१९]

इसी प्रकार 'स्वर्ग-सभा' में सिलेक्ट कमेटी का वर्णन करते हुए अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग हुआ है ।

१७—'हरिद्वार' ।

१८—वैद्यनाथ की यात्रा ।

१९—सरयूपार की यात्रा ।

निबंधों के बीच में कभी कभी भारतेंदु की शब्दक्रीड़ा या शाब्दिक चमत्कार की प्रवृत्ति भी सजग हो जाती है (पर अधिक नहीं)। इसके भी एक दो उदाहरण देखिए—

मिठाई हरैया की तारीफ के लायक है० बालूसाही सचमुच बालूसाही है भीतर काठ के टुकड़े भरे हुए० लड्डू 'भूर' के बरफी अहा हा हा ! गुड़ से भी बुरी० खैर लाचार होकर चने पर गुजर की० गुजर गई गुजरान क्या झोंपड़ी क्या मैदान०··· ।

···वाह रे बस्ती० झख मारने को बसती है अगर बस्ती इसी को कहते हैं तो उजाड़ किसको कहैंगे० सारी बस्ती में कोई भी पंडित बस्तीरामजी ऐसा पंडित नहीं है० खैर अब तो एक दिन यहाँ बसति होगी० ।[२०]

भारतेंदु की वार्तालाप शैली उनकी आत्मकथा में देखने को मिलती है। बिलकुल बोलचाल की भाषा और अत्यंत विश्वसनीय वातावरण। शब्दसमूह सभी प्रकार के, किंतु चलते हुए मुहावरों की छटा इसकी विशेषता है। इसमें भारतेंदु पाठकों से बातचीत करते मालूम होते हैं। निम्नलिखित उद्धरण में खुशामदियों की दरबारदारी, उनकी बातचीत और उनकी मनोवृत्ति का जीता जागता और बोलता हुआ शब्दचित्र है—

कोई कहता था आप से सुंदर ससार में नहीं हैं, कोई कसमें खाता था, आप-सा पंडित मैंने नहीं देखा, कोई पैगाम देता था चमेलीजान आप पर मरती है, आप के देखे बिना तड़प रही हैं, कोई बोला हाय ! आप का फलाना कवित्त पढ़कर रातभर रोते रहे··· चौथा बोला आपकी अँगूठी का पन्ना क्या है काँच का टुकड़ा है या कोई ताजी तोड़ी हुई पत्ती है। एक मीर साहब चिड़ियावाले ने चोंच खोली, बेपर की उड़ाई बोले कि आपके कबूतर किससे कम हैं वल्लाह कबूतर नहीं परीजाद हैं, खिलौने हैं तस्वीर हैं··· ।[२१]

भारतेंदु के निबंधों की सजीवता उनके मुहावरों के प्रयोग पर बहुत कुछ निर्भर है। उनके स्वतंत्र उदाहरण की कोई आवश्यकता नहीं है, उपर्युक्त उद्धरणों में ही इनके प्रयोग भरे पड़े हैं। भारतेंदु के कदाचित् एक ही दो लेख ऐसे मिलें जिनमें मुहावरों का अभाव हो।

शैलियों के विवेचन को समाप्त करने के पूर्व भारतेंदु के भाषा-शैथिल्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। यद्यपि भारतेंदु ने गद्य की परंपरा का

२०—वही।

२१—'एक कहानी आप बीती जग बीती'।

प्रवर्त्तन किया, फिर भी उनकी भाषा में व्याकरण की दृष्टि से चिंतनीय प्रयोग मिल ही जाते हैं। इसी प्रकार शब्दों के स्थानीय रूपों तथा स्थानीय और अल्पप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। इसे स्पष्ट करने के लिये किसी लंबे उद्धरण की आवश्यकता नहीं है, ये इधर उधर स्वतः देखने को मिल जाते हैं, फिर भी दो एक उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

गिरैंगे, मरैंगे, बिछुड़ैंगे, बेर, बातैं, पुस्तकैं आदि रूप प्रांतीय या स्थानिक हैं। इसी प्रकार इन वाक्यों के प्रयोग भी चिंत्य हैं—'सूरतसिंह को जोरावर सिंह और मियां मोगा सिंह दो पुत्र थे'; 'उसी वर्ष मक्का जाती समय'; 'यह बिल्कुल सफर उन्होंने पांच दिन में किया'; 'वहां की हिंदुस्तान से राह सिंधु देकर थी'; 'चिमचा कांटा आदि भी उस समय होता था और बड़ी शोभा से खाना चुना जाता था'; 'श्रीमद् बुल्लर साहब का धन्यवाद करना चाहिए'; 'इस आशय को सुनकर चार विद्वानों ने विचारांश किया'; 'किसी प्रकार स्वामी के प्राण हरण किए चाहिए'।

भारतेंदु के निबंधों में पाई जानेवाली विविध शैलियों के विषय में इतना कह देना आवश्यक है कि ऊपर जिन शैलियों का विवेचन किया गया है उनका किसी लेख में आद्योपांत निर्वाह नहीं हुआ है, एक ही निबंध में कई प्रकार के पदविन्यास देखने को मिल जाते हैं। एक जगह संस्कृत पदावली है तो दूसरी जगह उर्दू की छटा और तीसरी जगह मुहावरों के छींटे। उमंगों की तरंगों में बहते हुए भारतेंदु ने अपने मनोनुकूल भाषा को सँवारा और सजाया है।

फिर भी समष्टि रूप से देखने पर भारतेंदु की दो मुख्य शैलियाँ प्रतीत होती हैं। यों तो प्रचलित सामान्य संस्कृत पदसमूह उनके सभी लेखों की भाषा का आधार है, फिर भी उनकी एक शैली तत्समप्रधान और संस्कृत-समन्वित है। इसकी भाषा में प्रांजलता तो है किंतु प्रवाह कम है। भाषा का चलतापन उनकी दूसरी शैली में देखने को मिलता है। इसमें भाषा का नैसर्गिक सौंदर्य, उसकी मिठास और उसकी अपनी प्रकृत गति है।

भारतेंदु की प्रांजल शैली के पीछे इतिहास छिपा पड़ा है। उनके समय में हिंदी भाषा को आदरपूर्ण स्थान दिलाने का आंदोलन चल रहा था और स्वयं भारतेंदु उसके नेता थे। उर्दू से हिंदी को स्पष्ट करने के लिये उन लोगों ने संस्कृत-समन्वित हिंदी को अपना आदर्श बनाया और भारतेंदु ने इसका पूरा पूरा समर्थन किया। इसी से उनके बहुत से निबंधों की भाषा शुद्ध हिंदी है।

भारतेंदु शुद्ध हिंदी के पक्षपाती भले ही रहे हों, किंतु वे क्लिष्ट हिंदी, जटिल हिंदी, अस्पष्ट हिंदी, निर्जीव हिंदी और भाराक्रांत हिंदी के समर्थक कभी नहीं थे। वे कवि थे और गद्य के कलाकार थे। वे शब्दों की आत्मा को पहचानते थे। वे जानते थे कि भाषा की संजीवनी-शक्ति उसके चलतेपन में है, उसके मुहावरों में है; उधार ली हुई संस्कृतपदावली में नहीं है, जैसा कि भ्रमवश वर्तमान युग के कुछ कलाकार समझ बैठे हैं। इसी से उन्होंने अपने साहित्यिक लेखों का आधार तो संस्कृत पदावली को बनाया, किंतु मुहावरेदानी का साथ न छोड़ा और इसी कारण वे सफल निबंध-लेखक भी बन सके।

भारतेंदुयुग में प्रांजल शैली और प्रवाह शैली दोनों की आवश्यकता थी और इसी से दोनों का महत्त्व है। भारतेंदुयुग के लेखकों को भाषा को व्यवहारोपयोगी भी बनाना था और साहित्योपयोगी भी। व्यवहारोपयोगी भाषा प्रांजल शैली में निखरी। यही संस्कृतसमन्वित व्यवहारोपयोगी भाषा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा परिष्कृत हुई और आज राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन है। भारतेंदु की प्रांजल शैली का महत्त्व इतने ही से स्पष्ट हो जायगा।

साहित्योपयोगी भाषा में भावों की मार्मिकता और उनकी छटा दिखाने के लिये भारतेंदु ने प्रवाह शैली को माँजा। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि उनके समकालीनों ने भी इसी मुहावरेदार प्रवाह शैली को अपनाकर भाषा की अभिव्यंजन-शक्ति को बढ़ाया।

इस प्रकार भारतेंदु के निबंधों का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व स्पष्ट है। निबंधों के द्वारा ही परंपरा का प्रवर्त्तन हुआ, निबंधों के द्वारा ही जन-जागर्ति फैली और निबंधों के द्वारा ही भाषा की व्यंजकता बढ़ी। इसका सबसे अधिक श्रेय भारतेंदु को ही है।

भारतेंदु का महत्त्व इसलिये और भी बढ़ जाता है कि उस समय तक गद्य की कोई परंपरा नहीं थी। भारतेंदु को संचालक और संस्कारकर्त्ता दोनों बनना पड़ा। आज जब हम बीते युग के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं और आज की भाषा-समृद्धि का उस युग से संबंध जोड़ते हैं तो समझ में आता है कि भारतेंदु की हिंदी ने कितना महत्त्वपूर्ण काम किया है, और भारतेंदु ने अपने 'कालचक्र' में उसे नोट कर अपनी दर्पोक्ति का नहीं, प्रत्युत दूरदर्शिता का परिचय दिया है। भारतेंदु के निबंधों के द्वारा सचमुच 'हिंदी नए चाल में ढली'।

पत्रकार भारतेंदु

[श्री ब्रजेंद्रकिशोर अग्रवाल]

भारत में पत्रकारकला का आरंभ अंग्रेजों के आगमन के बाद हुआ। पहला भारतीय पत्र बंगाल में जेम्स ऑगस्टस हिके ने अंग्रेजी में निकाला था, जिसका नाम "हिकेज़ बंगाल गजेट" था। उसके अनंतर बंगाल में ही चार-पाँच अन्य पत्र अंग्रेजी में निकले। भारतीय भाषाओं में निकलनेवाला प्रथम पत्र बँगला में श्रीरामपुर के पादरियों का "दिग्दर्शन" था, परंतु भारतीयों द्वारा संपादित प्रथम पत्र 'बंगाली गजेट' था जो शीघ्र बंद हो गया। इसी समय के लगभग गुजराती भाषा में "बंबई समाचार" और हिंदी में "उदंत मार्त्तंड" निकला।

'उदंत मार्त्तंड' को कानपुर-निवासी पंडित जुगलकिशोर शुक्ल ने कलकत्ते में संवत् १८८३ में (३० मई सन् १८२६ ई० को) निकालना आरंभ किया। यह पत्र लगभग डेढ़ वर्ष चलकर बंद हो गया। सं० १८८६ वि० (सन् १८२९ ई०) में राजा राममोहन राय ने 'बंगदूत' पत्र निकाला। यह भी शीघ्र बंद हो गया। इन दोनों की भाषा पर बँगला का प्रभाव स्पष्ट था।

इनके प्रायः बीस वर्ष बाद काशी से राजा शिवप्रसाद के सहयोग से सं० १९०२ में "बनारस अखबार" निकला, जिसकी भाषा में उर्दू का अत्यधिक मेल रहता था। यह रद्दी कागज पर पं० गोविंद रघुनाथ थत्ते के संपादकत्व में प्रकाशित होता था। इसके पाँच वर्ष बाद शुद्ध हिंदी में "सुधाकर" पत्र निकला, जिसे तारामोहन मित्र ने कई सज्जनों की सहायता से प्रकाशित करना आरंभ किया था। यह भी शीघ्र ही धनाभाव के कारण बंद हो गया। इसकी प्रत्येक संख्या के प्रथम पृष्ठ पर पत्र के नाम के नीचे लीथो में काशी के दृश्यों के चित्र अंकित रहते थे। इसी पत्र के नाम पर प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् श्री सुधाकर द्विवेदी का नामकरण हुआ था। इस पत्र की हिंदी "बनारस अखबार" से अधिक शुद्ध तथा स्वच्छ थी। इन पत्रों से एक एक उदाहरण दिए जाते हैं जिससे उक्त बात स्पष्ट हो जायगी।

"बनारस अखबार" (१ जनवरी सन् १८५२ ई० की संख्या) से उद्धृत—

अस्सी संगम पर याने गंगाजी के पच्छिम तरफ थोड़े ही दूर पर राजा रत्नाराम साहेब ने अपने काशीबास करने के लिए एक बारहदरी संगीनी और केतने मकान असतबल खाना वगैरह बनवाया है और अब बाग बन्ने को छरदीवारी पक्की तैयार हो रही है और दर्वाजा उसका पच्छिम तरफ सड़क में बड़ा ऊँचा बना है बँगला तो देखकर लोग बहुत तारीफ करते हैं यकीन है कि बाग तैयार हो जाने पर बहुत अच्छा कैफ़ियत का मकान नज़र आवेगा और सारे मकानों का सिरताज बन जावेगा।

"सुधाकर" (कार्त्तिक कृ० २ सं० १९०४ की संख्या) से उद्धृत—

हमको तो मत के छेड़छाड़ से कुछ प्रयोजन नहीं क्योंकि वर्त्तमान समय में सूक्ष्मदर्शी कम दिखलाई पड़ते हैं और जो हैं भी सो इस प्रकार की अनुचित चर्चा में हाथ नहीं डालते किस वास्ते कि मतामत का विवाद केवल अज्ञानता मात्र है परन्तु उत्तम पुरुष जो होते हैं सो अनुचित विषय अपने साम्हने देखकर चुप नहीं रह सकते इसलिए एक महात्मा ने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की है कि डाक्टर बालंटाइन ने दर्शनशास्त्र पर जहां-तहां कुतर्क किया है उन सबों का खंडन कर संस्कृत अथवा भाषा में एक पुस्तक छपवावें।

सं० १९०९ में आगरे से एक पत्र "बुद्धिप्रकाश" निकला, जो कई वर्ष तक चलता रहा। इसके संपादक हिंदी गद्य-प्रतिष्ठापकों से भिन्न अन्य सदासुख लाल थे। इसकी भाषा शुद्ध हिंदी थी, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य था। "प्रजाहितैषी", "लोकमित्र" आदि कई अन्य पत्र भी निकले, पर हिंदी में जो पत्र-पत्रिकाओं की परंपरा आरंभ हुई उसका श्रेय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी को ही है। भारतेंदु जी का प्रभाव हिंदी भाषा और साहित्य दोनों ही पर बहुत अधिक पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार हिंदी के गद्य और पद्य की भाषा का परिमार्जन तथा परिष्करण कर उसे चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार उन्होंने हिंदी साहित्य को भी, उसके अभावों तथा त्रुटियों की ओर दृष्टि रखते हुए, नए मार्ग पर अग्रसर किया। हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं की कमी या एक प्रकार से अभाव देखकर उन्होंने सं० १९२४ विक्रमीय के भाद्रपद में पहली साहित्यिक मासिक पत्रिका निकाली और उनके सहयोग या प्रोत्साहन से उन्हीं के जीवन-काल में पचीस-तीस पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं।

कविवचनसुधा—भारतेंदु जी ने पहले पहल "कविवचनसुधा" का प्रकाशन आरंभ किया। उस समय वे केवल सत्रह वर्ष के थे और अपने जन्म के मास से हिंदी का यह सर्वप्रथम साहित्यिक मासिक पत्र लीथो में निकाला। 'कविवचनसुधा' के प्रथम वर्ष की केवल पाँचवीं संख्या प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है। इसपर 'संवत १९२४

पौष शुद्ध १५' तिथि छपी है। शीर्ष-दोहा कोई नहीं है। इस संख्या के अंतिम पृष्ठ पर छपा है—'विदित हो कि जिन सुरसिकों को और गुणग्राहकों को कविवचनसुधा अर्थात् जो कि हर महीने में एक बार प्राचीन कवियों के रचित काव्य १६ पृष्ठ छापे जाते हैं उसको खरीदना मंजूर हो.... ।'

इसी के अनुसार पाँचवें अंक में 'उक्ति-युक्ति रसकौमुदी', 'पृथ्वीराज रायसा अंतर्गत दिल्ली वर्णन' और शेखसादी कृत गुलिस्ताँ की एक कथा का संपादक कृत अनुवाद छपा है। भारतेंदु जी की दो समस्यापूर्तियाँ भी छपी हैं। संपादकीय टिप्पणियाँ तथा गद्य-लेख आदि कुछ नहीं हैं।

पहले वर्ष इस रूप में छपने के बाद, ऐसा जान पड़ता है कि, दो वर्षों तक इसका छपना बंद रहा। दूसरी जिल्द का पहला अंक भाद्रपद शुक्ल १५ सं० १९२७ को छपा और बराबर निकलता रहा। इसका शीर्ष-दोहा इस प्रकार है—

निन नित नव यह कविवचन-सुधा सकल रस खानि।
पीवहु रसिक अनंद भरि, परम लाभ जिय जानि॥
सुधा सदा सुरपुर बसै, सो नहिं तुम्हरे जोग।
तासों आदर देहु अरु, पीवहु एहि बुध लोग॥

इस वर्ष से कविवचनसुधा पाक्षिक हो गई और इसके रूप में भी कुछ परिष्करण हुआ। डबल डिमाई आकार (२२×३६) के १६ पृष्ठ प्रत्येक अंक में रहते थे। 'संपादकीय टिप्पणियाँ', 'समाचारावली' और 'बनारस' इसके मुख्य स्तंभ थे। संपादकीय टिप्पणियाँ अधिकतर राजनीतिक अथवा सामाजिक विषयों पर होती थीं। साहित्यिक लेखों में हिंदी भाषा और नाटक पर दो टिप्पणियाँ इस वर्ष छपी थीं। साधारण मनोरंजन की भी कुछ बातें दी जाती थीं। समाचारावली में अन्य पत्रों से समाचार चुनकर छापे जाते थे। चुनाव अधिकतर व्यक्तिगत समाचारों का ही होता था। बनारसवाले स्तंभ में यहाँ के मुख्य समाचार और सभा-सोसाइटियों के कार्यों की सूचना रहती थी।

अन्य लेख नहीं के बराबर रहते थे। पहले के अंकों में श्री बापूदेव शास्त्री का भूगोल से संबंधित एक लेख धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। बाद में एक नाटक 'नितंबिनी' छप रहा था। पद्य में अधिकतर समस्यापूर्त्तियाँ छपती थीं। कभी कभी स्फुट छोटे प्रबंध-काव्य भी रहते थे; यथा 'चुरिहारिन लीला'। श्री गिरिधरदास जी का 'रामकथामृत' भी क्रमशः छपता था। एक स्थान पर

सूचना है कि 'फंड में रुपए की कमी से पंच का प्रपंच आदि प्रबंध नहीं छापे जा सके हैं'।

इस पत्रिका के संपादक स्यात् श्री हरिश्चंद्र जी नहीं थे। एक संपादकीय टिप्पणी इस प्रकार है—"हमने कई स्थान पर देखा और सुना कि लोग हमारे लेख से बाबू हरिश्चंद्र से बुरा मानने लगते हैं। इसका कारण हम नहीं जानते कि क्या है। या तो यह हो कि लोग हमको न जानते हों या यह कि वे इस पत्र के स्वामी हैं इस हेतु लोग जानते हों कि जो कुछ इसमें छपता है सब उनकी संमति से छपता है......जान लें कि कविवचनसुधा संपादक दूसरा ही है।" जो कुछ भी हो भारतेंदु जी का यह पत्र था, इसलिये इस पत्र की शैली पर उनका पूरा प्रभाव था। इसके अनंतर तीसरी जिल्द से इस पत्र का आकार और बड़ा हो गया, परंतु अन्य सब बातें प्रायः वैसी ही बनी रहीं। संपादकीय टिप्पणियाँ कभी कभी अंग्रेजी में दी जाती थीं तथा गजेट से जनता के लाभ के लिये सूचनाएँ भी उद्धृत की जाती थीं। 'पंच का प्रपंच' आदि हास्यप्रधान लेख इस वर्ष से प्रकाशित होने लगे थे।

चौथे वर्ष से इसका आकार और बड़ा कर इसको साप्ताहिक पत्र बना दिया गया तथा शीर्ष-दोहों को बदलकर इसका सिद्धांत-वाक्य इस प्रकार रखा गया—

> खल जनन सों सजन दुखी मति होंहिं, हरिपद मति रहै।
> उपधर्म छूटैं, स्वत्व निज भारत लहै, कर दुख बहै॥
> बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होहिं, जग आनँद लहै।
> तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहै॥

इस पत्र का सब ओर से स्वागत हुआ। सरकार भी इसकी सौ प्रतियाँ खरीदती थी। समय पर पत्र न निकाल सकने के कारण भारतेंदु जी ने इसे कुछ दिनों बाद पं० चिंतामणि धड़फल्ले को प्रकाशित करने के लिये दे दिया। फिर कुछ दिनों बाद भारतेंदु जी ने इसमें अपने लेख देना बंद कर दिया, जिससे यह सत्ताहीन हो गया। उनकी मृत्यु के बाद सन् १८८५ ई० में इसका प्रकाशित होना सदा के लिये बंद हो गया।

हरिश्चंद्र-मैगजीन तथा हरिश्चंद्र-चंद्रिका—कविवचनसुधा के साप्ताहिक हो जाने पर उसी से संतुष्ट न रहकर सन् १८७२ ई० के अक्टूबर महीने से भारतेंदु जी ने एक अत्युत्तम मासिक पत्र "हरिश्चंद्र-मैगजीन" नाम से प्रकाशित करना आरंभ

किया। पहले उनका विचार इस पत्र को डबल डिमाई आकार के ४० पृष्ठों में निकालने का था, परंतु कुछ कठिनाइयों के कारण कुछ देर से उन्होंने इसको बड़े आकार के २४ पृष्ठों में प्रकाशित किया। यह प्रत्येक मास की पंद्रहवीं तारीख को छपता था। 'कविवचन सुधा' से ही संबंधित रूप में ही इसका प्रकाशन होता था।[1]

इसके संपादक स्वयं भारतेंदु जी थे। उनका विचार इसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक और धार्मिक विषयों पर तथा पुरातत्त्व संबंधी लेख एवं ग्रंथ-समीक्षा, नाटक, इतिहास, उपन्यास, काव्य-चयन तथा गोष्ठी और विनोद-वार्ता छापने का था।[2]

इसी उद्देश्य के अनुसार भारतेंदु जी इसमें लेखों का संग्रह करते थे और इसमें उन्हें बहुत सफलता मिली। इस मैगजीन के केवल आठ अंक प्रकाशित हुए। बाद में यही "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" के नाम से प्रकाशित होने लगी। इसमें कई छोटे छोटे ग्रंथ और लेख प्रकाशित हुए; जैसे हठीकृत राधासुधाशतक, भारतेंदुजी का 'धनंजय-विजय' व्यायोग, खत्रियों की उत्पत्ति, गदाधरसिंह द्वारा अनुवादित कादंबरी, लाला श्रीनिवासदास कृत तप्तासंवरण नाटक आदि। शांडिल्य-शतसूत्री भाषाभाष्य सहित छपती थी। पुरातत्त्व विषयक लेख और टिप्पणियाँ भी दी जाती थीं; जैसे नागमंगला का दानपत्र। भारतेंदु जी का 'पाँचवाँ पैगंबर', मुं० ज्वालाप्रसाद का 'कलिराज की सभा', मुं० कमलासहाय का 'रेल का विकट खेल' आदि लेख आज भी चाव से पढ़े जाते हैं। इसमें कुछ पृष्ठ अंग्रेजी भाषा के लेखों के भी रहते थे, जिनमें कई अच्छे हैं। ये लेख अधिकतर सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों पर होते थे। ये भी हिंदी भाषा के प्रचार के ही उद्देश्य से छपते थे। शतरंज की चालें भी प्रकाशित होती थीं। 'मैगजीन' की समाप्ति पर सन् १८७४ ई० के जून से 'चंद्रिका' प्रकाशित होने लगी। इसके शीर्ष पर निम्नलिखित श्लोक और छंद छपते थे—

विद्वत्कुलामलस्वान्तः कुमुदामोददायिका।
आर्याशानतमोहन्त्री श्रीहरिश्चन्द्रचन्द्रिका॥
कविजन-कुमुद-गन हिय विकासि चकोर-रसिकन सुख भरै।
प्रेमिन सुधा सों सींचि भारतभूमि आलस तम हरै॥

१—Published in connection with the Kavivachan Sudha.

२—Articles on Literary, Scientific, Political and Religious subjects, Antiquities, Reviews, Dramas, History, Novels, Poetical selections, Gossip, Humour and wit.

उद्यम सुत्रौषधि पोंखि विरहिन तापि ज्वल चोरन दरै।
हरिचंद्र की यह चंद्रिका परकासि जग मंगल करै॥

"हरिश्चंद्र मैगजीन" का अंगरेजीपन दूर कर इसका नाम "हरिश्चंद्रचंद्रिका" रखा गया था। शुरू की संख्याओं में हाशिए पर 'हरिश्चंद्र मैगजीन' भी छपता था। आवरण के अंतिम पृष्ठ पर मुखपृष्ठ का अंग्रेजी अनुवाद छपता था। उसमें 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' का अंग्रेजी नाम 'हरिश्चंद्र मैगजीन' ही होता था।

हरिश्चंद्र-मैगजीन की तरह चंद्रिका में भी आरंभ के कुछ अंशों में अंग्रेजी के कई लेख प्रकाशित होते थे। उनके विषय साधारणतः हिंदी भाषा और राजनीति से संबंध रखते थे। इससे ज्ञात होता है कि अंग्रेजी में लेख प्रकाशित करने में भारतेंदु जी का उद्देश्य शिक्षित जनता को अपने विचारों से प्रभावित करना था। पर बाद में अंग्रेजी के लेख बंद कर दिए गए। इसमें भी अनेक विषयों पर लेख और कविताएँ छपती थीं। 'चोज की बातें' नामक स्तंभ में चुटकुले इत्यादि छपते थे। भारतेंदु जी को कई विद्वान् लेखकों और कवियों का सहयोग प्राप्त था, किंतु अधिकतर उन्हीं के लेख इत्यादि प्रकाशित होते थे। दूसरे वर्ष के अंकों में इकतीस सहायक संपादकों के नाम प्रकाशित किए गए हैं, पर 'सहायक संपादक' शब्द उस समय लेख देनेवालों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

छः वर्षों तक छापने के बाद भारतेंदु जी ने इस पत्रिका को पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या को दे दिया। उन्होंने चैत्र शु० १ सं० १९३७ से इसको "हरिश्चंद्र चन्द्रिका और मोहनचन्द्रिका" के नाम से छापना आरंभ किया। अगले वर्ष से यह मेवाड़, श्री नाथद्वारे से प्रकाशित होने लगी, पर शीघ्र ही बंद हो गई। सन् १८८४ ई० से भारतेंदु जी ने इसको "नवोदिता हरिश्चंद्रचंद्रिका" के नाम से निकाला, पर दो अंक प्रकाशित होने के बाद वे स्वर्गवासी हो गए। इसके बाद इनके भाई ने एक अंक और निकाला, पर फिर यह लुप्त हो गई। ये तीनों अंक छोटे आकार के ५२-५२ पृष्ठों में निकले थे। इनमें "पुरावृत्त-संग्रह", "स्वर्णलता" उपन्यास, "सतीप्रताप" नाटक, "प्रेम-प्रलाप" और "कृष्ण भोग" छप रहे थे। 'बलिया का व्याख्यान' तीसरे अंक में पूरा छपा है। इसमें कुछ मुकरियाँ भी प्रकाशित हुई थीं। भारतेंदु जी ने 'कालचक्र' में लिखा है कि 'सन् १८७३ ई० में हरिश्चंद्र-मैगजीन के जन्म के साथ साथ हिंदी नए चाल में ढली।' इसलिये यहाँ पर इसकी भाषा का एक उदाहरण दिया जाता है—

अल्लहोपनिषत् में इनकी बड़ी महिमा लिखी है। द्वारिका में दो भांति के ब्राह्मण थे, जिनको बलदेव जी (मुशली) मानते थे उनका नाम मुशलिमान्य हुआ और जिन्हें श्रीकृष्ण मानते थे उनका नाम कृष्णमान् हुआ। अब इन दोनों शब्दों का अपभ्रंश मुसलमान और कृस्तान हो गया।

—हरिश्चंद्र-मैगजीन, अंक २, पृ० ३५

बालाबोधिनी—भारतेंदु जी स्त्रियों की शिक्षा के बड़े हिमायती थे। सन् १८७४ ई० के जनवरी महीने से उन्होंने महिलोपयोगी एक पत्रिका "बाला-बोधिनी" नाम से निकालना आरंभ किया। इसपर 'स्त्रीजनों की प्यारी हिंदी भाषा से सुधारी' छपा रहता था। इसके मुखपृष्ठ पर निम्नलिखित दोहे छपते थे—

जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष, यामें कछु न विभक्ति॥
सीता, अनुसूया, सती, अरुंधती अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण, लहौ सकल जग नारि॥
पितु पति सुत करतल कमल, लालित ललना लोग।
पढ़ैं गुनैं सीखैं सुनैं, नासैं सब जग सोग॥
वीरप्रसविनी बुध बधू होइ हीनता खोय।
नारी नर अरधंग की, साचेहिं स्वामिनि होय॥

यह पत्रिका डिमाई अठपेजी के एक फार्म में निकलती थी। इसमें महिलोप-योगी लेख ही अधिकतर छपते थे। 'शिशुपालन' नामक लेख में स्त्रियों को साधारण बातों के संबंध में शिक्षा दी जाती थी। यह क्रमशः छपा करता था। 'गुरसारणी' में दाम जोड़ने और हिसाब करने की शिक्षा कविता में दी जाती थी। स्यात् महिलोपयोगी लेखों की कमी के कारण इसमें मुद्राराक्षस नाटक और नीतिविषयक इतिहास भी बाद में छपने लगे। इसका काफी स्वागत हुआ। सरकार भी इसकी सौ प्रतियाँ खरीदती थी। चार वर्ष तक प्रकाशित होने के बाद यह पत्रिका बंद हो गई।

भारतेंदु जी ने हिंदी साहित्य में पत्रों का अभाव देखकर 'कविवचनसुधा', 'हरिश्चंद्र-मैगजीन', 'हरिश्चंद्रचंद्रिका', 'नवोदिता हरिश्चंद्रचंद्रिका' और 'बालाबोधिनी' पत्रिकाएँ क्रमशः प्रकाशित की थीं। ये चारों एक ही परंपरा की हैं, जो बीच-बीच में बंद होकर फिर चालू हो जाती थीं। चंद्रिका में उन्होंने हास्य-रस का एक पत्र प्रकाशित करने की सूचना दी थी, पर ग्राहकों की कमी से वे उसे नहीं निकाल सके। उस समय

हिंदी भाषा की जो स्थिति थी उसका ध्यान रखते हुए हम कह सकते हैं कि भारतेंदु जी द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाएँ उत्तम कोटि की थीं। हिंदी भाषा का प्रचार करने के साथ ही उन्होंने बहुत से लेखक भी उत्पन्न किए और हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की एक परंपरा भी स्थापित की। भारतेंदु जी के जीवनकाल में ही अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं जिनमें से कुछ के नाम नीचे दिए जाते हैं—

बिहारबंधु (सं० १६२६; पं० केशवराम भट्ट); सदादर्श (दिल्ली, सं० १६३१; लाला श्री निवासदास); हिंदी-प्रदीप (प्रयाग, सं० १६३४; पं० बालकृष्ण भट्ट); भारतमित्र (कलकत्ता, सं० १६३४; पं० रुद्रदत्त); आनंद-कादंबिनी (मिर्जापुर, सं० १६३८; उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी); ब्राह्मण (कानपुर, सं० १६४०; पं० प्रतापनारायण मिश्र); भारतजीवन (काशी, सं० १६४१; श्री रामकृष्ण वर्मा); भारतेंदु (वृंदावन, सं० १६४१; श्री राधाचरण गोस्वामी) इत्यादि। इनमें से कई बहुत दिनों तक लगातार प्रकाशित हुईं और उन्होंने हिंदी की अच्छी सेवा की।

भारतेंदु हरिश्चंद्र और पुरातत्त्व

[श्री उदयशंकर त्रिवेदी]

भारत में पहले-पहल जब पुरातत्त्व की चर्चा चली और उसके परिणामस्वरूप 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक ग्रंथमाला का प्रकाशन आरंभ हुआ तो धीरे धीरे उसके द्वारा भारतीय इतिहास की सामग्री सामने आने लगी। इस कार्य में पहले कुछ फिरंगी विद्वानों ने पथ-प्रदर्शन अवश्य किया, पर उनके लिये भी यह आवश्यक था कि वे यहाँ के सुरुचिसंपन्न व्यक्तियों से मिलते और अपने अध्ययन के लिये सामग्री प्राप्त करते।

भारतेंदु जी की अभिरुचि स्वतः अन्वेषणात्मक ज्ञान का प्रकाश करने की थी। पहले-पहल जब कर्नल अलकाट का भाषण काशी में हुआ था, तो तत्काल उसका अँगरेजी से हिंदी भाषा में अनुवाद करके उन्होंने सुनाया था। इससे अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों में भी उन्हें पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। कहते हैं उस समय भारतेंदु जी की अवस्था बहुत अधिक नहीं थी। अस्तु, पुरातत्त्व के अनुसंधित्सु लोग काशी आते तो वे भारतेंदु जी का संपर्क अवश्य प्राप्त करते। फिर तो उन लोगों की कोई भी ऐसी रिपोर्ट न होती जिसमें इनका सहयोग न हो। बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी को उन्होंने ऐसे महार्घ ग्रंथ दिए कि उनके लिये उक्त सोसायटी आज भी उनकी कृतज्ञ है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने जब संस्कृत पुस्तकों की खोज करवाने का विचार किया तो सबसे पहले उन्होंने भारतेंदु जी से ही सहयोग एवं सहमति प्राप्त की थी। 'एशियाटिक रिसर्चेज' का कार्य जब कुछ चल निकला तब तो निश्चय ही उसके प्रत्येक अंक में कुछ न कुछ सामग्री भारतेंदु जी की अवश्य रहती। उस समय भारतेंदु ने उस सामग्री को हिंदीभाषी जनता के लिये सुलभ बनाने के उद्देश्य से अपनी स्वतंत्र टीका-टिप्पणी सहित नागरी अक्षरों में प्रकाशित करना आरंभ किया। क्या मूर्त्तियाँ और क्या शिलालेख, सिक्के आदि, सभी कुछ उन्होंने एकत्र किया और जनता के सामने उसका मर्म भी प्रकाशित किया।

काशी की पंचक्रोशी की परिक्रमा में उन दिनों की बहुत सी सामग्री छितराई पड़ी हुई थी, उसे देख देखकर पूरी छानबीन के साथ उन्होंने उसपर प्रकाश

डाला। पंचक्रोशी में बने सबसे प्राचीन मंदिर "कर्दमेश्वर" का वर्णन इस प्रकार किया था—"कर्दमेश्वर का मंदिर बहुत ही प्राचीन है और उसके शिखर पर बहुत चित्र (मूर्त्तियाँ) बने हैं, जिनमें कई एक तो हिंदुओं के देवताओं के हैं, पर अनेक ऐसे विचित्र देव और देवी बनी हैं जिनका ध्यान हिंदू शास्त्रों में कहीं नहीं मिलता अतएव कर्दमेश्वर महादेव जी का राज्य उस मंदिर पर कब से हुआ यह निश्चय नहीं, और पलथी मारे हुए जो कर्दम जी की श्री मूर्त्ति है वह तो निस्संदेह......कुछ और ही है। और इस निश्चय के हेतु उस मंदिर के आसपास जैन खंड प्रमाण हैं और उसी गाँव में आगे कूप के पास दाहिने हाथ एक चौतरा है उसपर वैसे ही ठीक किसी जैनाचार्य की मूर्त्ति पलथी मारे खंडित रखी है, देख लीजिए उसके लंबे कान उसका जैनत्व प्रमाण करते हैं। अब कहिए वह तो कर्दम ऋषि हैं, ये कौन हैं, कपिलदेव जी हैं ? ऐसे ही पंचक्रोशी के सारे मार्ग में वरंच काशी के आसपास अनेक गाँवों में सुंदर शिल्पविद्या से विरचित जैन खंड पृथ्वी के नीचे और ऊपर पड़े हैं। कर्दमेश्वर का सरोवर भी श्रीमती रानी भवानी का बनाया है और उसपर यह श्लोक लिखा है—

> शाके गो चतुरं भूपति मिते श्रीमत् भवानी नृपा।
> गौडाख्यानमहीमहेन्द्रवनिता निष्कर्दमं कार्दमं ॥
> कुंडं ग्रावसुखंडमंडिततटं काश्यां व्यधादादरात्।
> श्री तारातनया पुरांतक परप्रीत्यै विमुक्त्यै नृणां ॥

अर्थात् १६७७ शाके में अपनी कन्या तारा देवी के स्मरणार्थ यह कर्दम कुंड बंगाल की महारानी श्री भवानी ने बनाया।"

इसी काशी के पंचगंगा घाट पर स्थित रामानंद की मढ़ी की दीवार में एक मुख लगा हुआ है। उसे सब लोग 'नरसिंहदाढ़ा' कहते हैं। उसपर भारतेंदु जी ने एक टिप्पणी लिखी—

"काशी में बिंदुमाधव घाट संवत् १७६२ में श्री छत्रपति महाराज के पंत प्रतिनिधि परशुराम के पुत्र श्री श्रीनिवास की स्त्री राधाबाई ने बनवाया है और ऐसा अनुमान होता है कि जब यह घाट नहीं बना था तभी से इसका नाम नरसिंहदाढ़ा था, क्योंकि नरसिंह का नाम उस श्लोक में पड़ा है जो बाई साहब के काल का बना है। निश्चय है कि नरसिंहदाढ़े के नाम से लोग सोचेंगे कि यह कौन वस्तु है परंतु मैं इतना ही कह सकता हूँ कि वह नरसिंहदाढ़ा एक पत्थर का केवल मुख का आकार है जो रामानंद की मढ़ी में हनुमान जी की बाँई ओर दीवार में लगा है; और जब वहाँ तक पानी चढ़ता है तब इंद्रदमन का नहान लगता है। ऐसा अनुमान होता है

कि यह इसी नाप के हेतु बनाया गया है। या वह किसी पुरानी मूर्ति का मुँह है जो नरसिंह जी के मुँह के नाम से पुजता है, पर कोई कहते हैं कि वह रामानंद गोसाँई का मुंह है। जो हो मुंह तो गोल पुराना मुड़मुंडा सा है।"

इसके अतिरिक्त और भी कई शिलालेखों को उन्होंने प्रकाशित किया; कई समस्याओं पर उस सूक्ष्मता से विचार किया जिस प्रकार आज सत्तर-अस्सी वर्ष बाद भी लोग करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें यह सब स्वयंसिद्ध था।

शिलालेखों और मूर्तियों के अतिरिक्त इतिहास पर भी उन्होंने उतने ही अधिकार के साथ कलम चलाई है। ऐतिहासिक समस्याओं के लिये उनका 'काश्मीर-कुसुम' नामक ग्रंथ विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उसकी भूमिका में भारतेंदु जी ने इतिहास के अभाव, राजतरंगिणी का चार भागों में बनना, उसकी समालोचना, हर्षदेव, और काश्मीर का राजघराना, इन विषयों का भी वर्णन किया है। उसमें एक 'चार्ट' प्रकाशित किया है जिसमें राजाओं की संख्या, नाम, गत कलि-समय, कनिंघम के मत से समय, डायर के मत से समय, विल्सन के मत से समय, राज्यकाल आदि का निरूपण बड़े ही परिश्रम से किया गया है।

पुरातत्त्व-विषयक ग्रंथ "पुरावृत्तसंग्रह" भी ४६ पृष्ठों का अनूठा ग्रंथ है। इसमें भी कई शिलालेखों, दानपत्रों एवं काशी के आसपास की प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों आदि का वर्णन है। इनके अतिरिक्त कहा जाता है कि उन्हें चित्र एवं सिक्के एकत्र करने का भी चाव था। कहते हैं, एक अलबम उन्होंने अनेक सुंदर से सुंदर चित्रों का तैयार किया था। एक सज्जन ने उसकी बड़ी प्रशंसा की तो उन्होंने उसे उनको भेंट कर दिया। पीछे उन सज्जन को ५००) देकर उसे वापस लेना चाहा, पर चीज हाथ से निकल ही गई। सिक्कों के संग्रह की भी ऐसी ही बात है।

आज से सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व इन विषयों की चर्चा करना और उसे जनता के लिये सुलभ बनाना कितना कठिन कार्य रहा होगा, इसे इस दिशा में कार्य करनेवाले ही समझ सकते हैं। उन दिनों एक शिलालेख को पढ़ना, एक एक सिक्के के अक्षरों को खोज निकालना, सचमुच बड़े अध्यवसाय का कार्य रहा होगा जब कि वह आज भी सुगम नहीं है। उन्होंने पुरावृत्तसंग्रह में जिस "पंथ" के अभिलेख को प्रकाशित किया था (जो लखनऊ के प्रांतीय संग्रहालय में सुरक्षित है), आज भी उसकी कुटिल लिपि सरलता से पढ़ी नहीं जा सकती। पर भारतेंदु जी के स्थिर किए हुए पाठ में कोई हरताल नहीं लगा सका। इस समय पुरातत्त्व के विद्यार्थी के लिये जिन जिन बातों की उपयोगिता प्रतीत होती है, अपने समय में भारतेंदु जी ने उन सबको सुलभ करने का प्रयत्न किया था और उसमें वे सर्वांशतः सफल थे।

राष्ट्रीय चेतना के प्रवर्तक कवि भारतेंदु

[श्री राजेंद्रनारायण शर्मा]

हिंदी के रीतिकालीन कवियों की रूढ़िग्रस्त श्रृंगारधारा बहुत दिनों तक चली। स्थूल सौंदर्य की निर्जीव आवृत्तियों में घूम घूमकर वह इतनी थक गई कि उसमें लोक-प्रेरणा की धरती को सींचने को रमशक्ति न रह गई। वीर रस के प्रसिद्ध कवि भूषण काव्य के उन्हीं रसविरल सैकत कगारों में ओज का एक नया परीवाह ले आए, पर उनका भगीरथ प्रयत्न युगांतरकारी सिद्ध न हुआ, यद्यपि वासनोन्मुख भौतिक सौंदर्य की अतिरंजनाओं की प्रतिक्रिया उनके पक्ष में थी। संभवतः उनकी अनुभूतियों में सार्वभौमता के अभाव के कारण भाव-जगत् की परिस्थितियाँ उनके द्वारा लाए गए इस परिवर्तन को स्थायी रूप से अपनाने में असमर्थ रहीं। कविता की धारा ग्रीष्मविरल नदी की भाँति मंद मंद बहती रही। भारतेंदु बाबू ने उसी प्राचीन स्रोतपथ में प्रेरणात्मक काव्य का ऐसा प्रवाह चलाया जो केवल लोकरंजनकारी ही न हुआ, प्रत्युत जिसने हिंदी काव्य का नवीन संस्कार कर उसे व्यापक शक्ति प्रदान की। हमारे साहित्य को उन्मीलन की एक नई दिशा मिली।

उन दिनों हमारी चेतना अपने युग की विशेष समस्याओं के उत्तर की खोज में विकल थी। जीवन के कल्पित सुखों में, उन सुखों के चित्रों में, प्राणों को रमाने का आकर्षण शेष न रहा। मनुष्य जीवन के यथार्थ की ओर उन्मुख हुआ। अपने दीर्घकालीन पराभव को विस्मृत करने के लिये विलास के गीत गानेवाली जाति को अन्य कवियों की वाणी न तो स्थायी उत्साह प्रदान कर सकी और न वह उस युग की प्रमुख समस्याओं के समाधान की कोई नई दिशा ही बता सकी। इसका श्रेय तो भारतेंदु को ही प्राप्त हुआ। उस युग के जीवन के वास्तविक सत्य के रूप में दुःख और वेदना की प्रतिष्ठा पहले पहल भारतेंदु की कविता द्वारा हुई। राष्ट्रीय क्षोभ और जागरण की किरणें देश में अंधकार का समुद्र पार कर रही थीं। हरिश्चंद्र की काव्यकला ने उन्हीं किरणों के सहारे निराशा दम घोंटनेवाले घर में हमारे लिये प्रकाश के अनेक वातायन बनाए। उस समय अपनी दुर्दशा पर खुलकर रोना राजद्रोह समझा जाता था। अँगरेजी साम्राज्य में हो रहे भारतीयों के सांस्कृतिक अधःपात

की ओर निरंतर जनता का ध्यान आकृष्ट करने से सहज ही इनकी कविता लोकप्रिय हो गई। इन्होंने विदेशियों और विधर्मियों द्वारा दलित और शोषित जनता की भावनाओं को अपनी कविता का एक प्रधान विषय बनाया। यही कारण है कि इतने अल्प काल में एतद्विषयक अपनी थोड़ी सी कविताओं के सहारे इन्होंने भारतीयों की इतनी सहानुभूति अर्जित की। एक प्रकार से देश-प्रेम से प्रभावित राष्ट्रीय कविताओं के उत्थान को व्यवस्थित रूप देनेवाले इस युग के वे पहले कवि कहे जा सकते हैं।

विषय और शैली की दृष्टि से इनकी कविताओं की दो स्पष्ट धाराएँ हैं—एक शृंगार तथा भक्ति की और दूसरी राष्ट्रप्रेम की। यहाँ हम केवल दूसरी धारा की ही चर्चा करेंगे। इन्होंने अभावों की व्यष्टिगत वेदना को राष्ट्रीय व्यापकता दी। जाति और संप्रदायगत दुःखों को समूचे देश की असहनीय समस्या का रूप दिया। अपनी वर्तमान हेय अवस्था के प्रति जनता के हृदय में असंतोष उत्पन्न करनेवालों के भारतेंदु अग्रणी हुए। भारत की उस दयनीय स्थिति की ओर सारे देश की जनता का ध्यान आकृष्ट करना उनकी वाणी का एक मुख्य वैभव रहा, उनकी इस विशेषता की ओर लोगों ने कम ध्यान दिया है। शताब्दियों की हतदर्प पराजित जाति के हृदय में स्वाभिमान की चेतना और जीवन की स्फूर्ति भरनेवाले तथा काव्य-तंत्र में देशानुराग, मातृभाषा-भक्ति और राष्ट्रीय प्रेम की नई भावनाओं को ओज एवं गति देनेवाले पहले कवि, सच्चे अर्थ में पहले राष्ट्रकवि, भारतेंदु ही हैं। उनकी भाव-परिपूर्ण ओजस्विनी भाषा तथा सशक्त व्यंजना-शैली के संस्पर्श में उपर्युक्त जो भी विषय आए उन्हें इनकी प्रतिभा ने रसात्मक रूप ही नहीं दिया, प्रत्युत लोकप्रेरणा का सजीव आकर बना डाला। भारतेंदुजी ने चारों ओर जागरण की एक धूम मचा दी। चेतना की जो लहर उनके तीखे व्यंग-भरे राष्ट्रीय छंदों के आंदोलन से उठी उसने अनेक प्रत्यूर्मियों को उत्पन्न किया। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर अन्य कवियों ने भी उसी समय से राष्ट्रीय काव्य-रचना की ओर पग बढ़ाया। उनके राष्ट्रप्रेम के उच्चरित महामंत्र का अंतिम प्रतिनिर्घोष हमें भारत से विदेशी सत्ता के पलायन में स्पष्ट सुनाई पड़ा। उस समय जब कि सदियों से कुचली जाती हुई जाति अपनी राष्ट्रीय अधोगति को लोकचक्षुगोचर करने के लिये व्यग्र थी और अपनी पराभवजन्य दुर्दशा पर आँसू बहाना भी अपराध गुना जाता था, उन्होंने देश की करुणाभरी गाथा के गीत लिखकर उन्हें गाना आरंभ किया। पहले भगवान से प्रार्थना की—

कहाँ करुणा निधि केशव ! सोए !
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए ॥
प्रलय काल सम जौन सुदर्सन असुर प्रानसंहारी ।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी ॥
दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटैं ।
एक एक दिन सहज सहस नर सीस काटि भुव पाटैं ॥
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई ।
सब बिधि बूड़त लखि निज देसहि लेहुन अबहुँ बचाई॥

इस छंद में विनय तो एक व्याज है। अपनी प्राचीन खोई हुई महिमा को पुनः प्राप्त करने के लिये उद्बोधन से ये कविताएँ भरी हैं। विषय चाहे युवराज का स्वागत-गान हो, चाहे मिस्र पर अंगरेजी और भारतीय सेनाओं की विजयगीतिका हो, घूम-फिर इनकी लेखनी अपने स्वदेश के गौरवपूर्ण अतीत के गायन और निराशा तथा पतन के निचले स्तर से संपरिष्वक्त वर्तमान की क्षोभपूर्ण व्यंजना में तत्पर हो जाती है। देखिए, ये पंक्तियाँ उनकी राजभक्ति की रचना की हैं; भारत माता किस दारुण वेश में राजकुमार एडवर्ड के स्वागत को जाती है—

सुनत सेज तजि भारत माई, उठी तुरंतहि जिय अकुलाई ।
निबिड़ केस दोउ कर निरुआरी, पीत बदन को कांति पसारी ।
भरे नेत्र अँसुवन जलधारा, लै उसास यह बचन उचारा ।
क्यों आवत इत नृपति कुमारा, भारत में छायो अँधियारा ।
कहा इहाँ अब लखिवे जोगू, अब नाहिंन इत वे सब लोगू ।
जिनके भय कंपत संसारा, सब जग जिनको तेज पसारा ।

प्रत्येक देशभक्त भारतवासी के हृदय की भावनाओं का उद्गार इन पंक्तियों में संगृहीत है। विजय-वैजयंती में सन् १८८२ की घटना का समारंभ करते हैं—

फरकि उठीं सबकी भुजा, खरकि उठीं तलवार ।
क्यों आपुहि ऊँचे भए, आर्य मोछ के बार ॥

आर्यत्व का अभिमान यहाँ भी गरज उठा। आगे की पंक्तियाँ लोकभावना का कैसा सच्चा प्रतिनिधित्व करती हैं, यह मीमांसा की अपेक्षा नहीं रखता। वर्तमान (उस समय का) के प्रति आत्मक्षोभ और धैर्य्य-विनिपात का कैसा मार्मिक चित्रण है —

काशी प्राग अयोध्या नगरी, दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी।
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई, रही सबै भुव महँ मसि लाई।
हाय पंचनद ! हा पानीपत ! अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चितौर ! निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहि मँझारी।
जा दिन तुव अधिकार नसायो, सो दिन क्यों नहि धरनि समायो।
तुममें जल नहिं जमुना गंगा, बढ़हु वेग करि तरल तरंगा।
धोवहु यह कलंक की रासी, बोरहु किन झट मथुरा कासी।
कुस कन्नौज अंग अरु बंगहिं, बोरहु किन निज कठिन तरंगहिं।
अहो भयानक भ्राता सागर, तुम तरंग निधि अति बल आगर।
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई, देहु भरत भुव तुरत डुबाई।
घेरि छिपावहु विंध्य हिमालय, करहु सकल जल भीतर तुम लय।
धोवहू भारत अपजस पंका, मेटहु भारत भूमि कलंका।

इन पंक्तियों का स्पष्ट संकेत, पराभव से मुक्ति पाने के लिये प्रलयकारी पराक्रम करने की ओर है। यदि ऐसा न हो, भारतवर्ष को दासता और दलन से छुड़ाया न जा सके, तो इस महान् राष्ट्र का सागर में डूब जाना अच्छा है। स्वाभिमानी जाति के वीरों को ऐसी निर्लज्जता की स्थिति में एक दिन भी जीवन बिताना पाप है। इस प्रकार प्रत्येक अवसर पर हम देखते हैं कि भारतेंदु भारतवासी को अपनी प्राचीन राष्ट्रगरिमा को प्राप्त करने के लिये उत्तेजित करने से नहीं चूकते। यही उनकी वीर-रसप्रधान, करुण-रसप्रधान कविताओं की आत्मा है। यही उस आत्मा की पुकार है।

हास्य रस की रचनाओं में भी देखिए, वही व्यंग्य सर्वोदित है—

चूरन साहब लोग हैं खाते, सारा हिंद हजम कर जाते।

हमारी संस्कृति में, उस संस्कृति की चिरंतनशीलता में, जो कुछ गर्व के योग्य है उसका गान इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का पहला और मुख्य उन्मेष रहा है। हमारे देश में, जाति और समाज में, देश-जाति-समाज-गत जो भी कुरीतियाँ जहाँ भी इन्हें दिखाई पड़ीं, इन्होंने निर्भीक हो उनपर कुठाराघात किया। बुराइयों को निर्मम ठोकरें लगाईं।

भारतवर्ष के राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक क्षितिज पर होनेवाले युगांतरकारी महापरिवर्तन के अरुणोदय की सूचना बनकर श्री भारतेंदु जी सामने

आए। उन्होंने क्षुब्ध लोकचेतना और समष्टिगत वेदना का सफल नेतृत्व किया। जीवन के व्यापक क्षेत्रों से परिवर्तन के आकुल सूत्रों को ग्रहण किया और उन्हें बड़ी कुशलतापूर्वक संस्कार की दिशा में श्रेय शिखर तक खींच ले गए। संस्कार की यह प्रवृत्ति विषय और व्यंजना में ही अक्षुण्ण न रही, भाषा को भी उन्होंने विषय के समानांतर, शैली के संग संग खूब परिमार्जित किया। हिंदी खड़ी बोली ने पहली बार इन्हीं हाथों अपनी प्राचीनता का कंचुक विसर्जन किया। इस प्रकार वीर-परंपरा का अपने नए ढंग से प्रवर्तन करती हुई इनकी काव्यशैली की यह एक मुख्य धारा है।

खड़ी बोली पद्य में भारतेंदु के प्रयोग

[श्री नारायणप्रसाद सिन्हा]

भारतेंदु हरिश्चंद्र आधुनिक हिंदी के प्रवर्तक हैं। भारतेंदु की ही प्रेरणा से रीतिकालीन प्रवृत्तियों का अवसान या संस्कार होकर नूतन परंपरा का प्रादुर्भाव हुआ। उनकी सातवीं वर्षगाँठ ने (सं० १९१४ में) ब्रिटिश भारत की पहली क्रांति देखी थी और जिस वर्ष उनका देहावसान हुआ उस वर्ष अखिल भारतवर्षीय राष्ट्रीय महासभा का आविर्भाव हुआ। ऐसा लगा कि साहित्यिक दृष्टिकोण से वे क्रांति के एक अग्रदूत बनकर आए और क्रांति की प्रलयाग्नि में प्रवेश कर गए।

भारतेंदु जी ने हिंदी-सेवा के यज्ञ में अपने सर्वस्व की आहुति कर दी थी। जिस वाराणसी में राजा हरिश्चंद्र ने सत्यार्थ अपना सर्वस्व त्याग दिया था, उसी वाराणसी में इस युग के हरिश्चंद्र ने साहित्यार्थ अपना सर्वस्व विसर्जित किया था। अंग्रेजी सरकार की कोप-दृष्टि और परिवार की अप्रसन्नता की तनिक भी परवाह न कर उन्होंने अपने इस व्रत का निर्वाह पूर्ण रूप से किया।

भारतेंदु एक महान् व्यक्ति थे। उनके यहाँ पिनकाट जैसा सप्तभाषी विद्वान् आता था, जो हिंदी में कविताएँ रचकर भारतेंदु जी को समर्पित कर गया। उर्दू के कवियों ने भी हरिश्चंद्र के गजलों का अनुकरण किया था। संस्कृत के प्रसिद्ध आलंकारिक पं० ताराचंद तर्करत्न ने किशोर भारतेंदु द्वारा प्रतिपादित चार नए रसों (वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनंद) को सादर भारतेंदु के नामोल्लेख के साथ अपनी पुस्तक में स्थान प्रदान किया था। उर्दूवालों पर भारतेंदु का कितना प्रभाव था, यह इससे विदित होगा कि जिस समय भारतेंदु जी द्वारा नाटकों का प्रकाशन हुआ था उस समय लखनऊ के "हिंदुस्तानी" पत्र ने लिखा था—

"बाबू साहब की तसनीफ़ात और तालीमात हिंदी ज़ुबान में कसरत से हैं, बल्कि सच कहा जाय तो हिंदी की तरक्की आप ही से ख्याल करना चाहिए। अगर बाबू साहब तक़लीफ़ गवारा करके अपनी कुल तसनीफ़ात उर्दू में तर्जुमा कर दें तो बिला शक एक बड़ा एहसान उर्दू पढ़े हुए पबलिक पर होगा। उर्दू ज़ुबान नाटकों से बिलकुल खाली है। लेकिन हमको उम्मीद

है कि अगर ऐसे ही दो चार लायक़-फ़ायक़ शख्स अपने क़ीमती वक्त को इधर सर्फ़ करेंगें तो बहुत कुछ दावा इस ज़ुबान का होगा।"

प्रस्तुत लघु लेख में भारतेंदु के व्यापक साहित्य का विवेचन करना संभव नहीं। इसमें मैं केवल भारतेंदु साहित्य के एक उपेक्षित पहलू—खड़ी बोली पद्य में भारतेंदु के प्रयोग—की ओर संकेत करूँगा।

भारतेंदुयुग महान् होने पर भी एक संक्रांति का काल था; जब शासक बदल गया था, किंतु समाज पुराना था; नीति में परिवर्तन हो गए थे, पर नीति पुरानी थी; भाव बदल गए थे, पर भाषा-शैली पुरानी थी। एक विचित्र समय था। एक ओर रीतिकालीन निस्पंद बाँसुरी बजाई जाती थी और दूसरी ओर नवयुग की अगणित राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ निराश्रय होकर साहित्य से रूप माँग रही थी। एक ओर साहित्य की भाषा श्लेष और वक्रोक्ति की उपचारवक्रता लेकर क्लिष्ट और अप्रकृत बन रही थी और दूसरी ओर देश की नई चेतना अंतर्प्रांतीय विनिमय के लिये सरलतर भाषा की खोज में थी। भारतेंदु ने नवीन चेतना का आग्रह सहज ही स्वीकार कर लिया और सभी दिशाओं में उसका पथ-निर्देश किया।

हिंदी के कुछ समीक्षकों की राय में भारतेंदु की संधिकालीन कोमल कला में जहाँ वर्तमान की लाली है, वहाँ अतीत की कालिख भी। कहा जाता है कि भारतेंदु की राष्ट्रीयता हिंदुत्व के खूँटे से बँधी है। भारतेंदु ने गद्य के लिये तो खड़ी बोली को खड़ा किया, किंतु पद्य के लिये व्रजभाषा की देहली पर मधुकरी भी की। और प्रकृति? वह तो बहाना मात्र है। उसके प्रति तो कवि का अनुराग है ही नहीं। इस आलोचना-शृंखला की आलोचना न करके हमें यही कहना है कि भारतेंदु अपने युग से आगे थे—बहुत आगे। भारतेंदु की राष्ट्रीयता में युग का दैन्य भी था और भविष्य की आग भी। यह और बात है कि क्रांति की विफलता ने दैन्य को ही तत्कालीन जीवन की मुख्य वस्तु बना दिया था, इस कारण तत्कालीन साहित्य में भारत की दुर्दशा पर करुणा की एक अंतर्धारा व्याप्त है। यदि हम आगे आनेवाले जन्मसिद्ध अधिकार की माँग तथा उसके लिये करबंदी आंदोलन के कारणों का पूर्व संकेत देखना चाहें तो "सत्य हरिश्चंद्र" के भरतवाक्य को पढ़ें—'स्वत्व निज भारत गहै कर दुख बहै।' नीलदेवी की गुप्त मंत्रणा में संभवतः षड्यंत्र का सूत्र भी दिखाई पड़ेगा। भारतेंदु परोक्षवादी नहीं, प्रत्यक्षवादी हैं; वे भाग्यवादी नहीं, कठोर वस्तु-

वादी हैं। उन्होंने तत्कालीन मरघट की उदासीनता को अपने उद्बोधन-गीत में बेतरह झकझोरा है—

धन विदेश चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकिल हत रचि न सकत कल॥

प्रकृति-वर्णन में भी, भारतेंदु ने अपनी कविता को न केवल प्रकृति के अत्याधुनिक प्रसाधनों से सजाकर ही अपनी प्रगतिशीलता दिखाई है, वरन् उसे स्वतंत्र रूप भी दिया है। उन्होंने प्रकृति का वर्णन अधिक नहीं किया, पर नवीनता वे उसमें भी ले आए। उन्होंने 'प्रकृति' की केवल पुरानी चली आती हुई वस्तुओं का ही वर्णन नहीं किया है, उसमें सरसों के खेत भी हैं—

फैली चहुँ दिसि हरदी सुरंग। सरसों के खेत फूलन के संग॥

यह वर्णन आधुनिक कवियों के लिये भी आकर्षण रखता है। भारतेंदु की प्रकृति में कृष्ण को पाकर खग, मृग, अहिगण, मच्छा ही नहीं, वरन् गाय-भैंस के बछड़े भी नाचते हैं—

नाचत खग मृग अहिगण मच्छा। नाचत गाय भैंस के बच्छा॥

इस प्रकार प्रकृति-चित्रण में भी भारतेंदु ने उपेक्षितों की अपेक्षा करके एक नवीन गवाक्ष खोला।

मेरा विचार है कि भारतेंदु ने जब नाटक लिखना प्रारंभ किया होगा, उस समय भाषा की समस्या एक बड़ी असंगति बनकर समक्ष आ गई होगी। खड़ी बोली गद्य में तो स्वीकृत हो चुकी थी और उसके गद्य की भाषा में एक सुनिश्चित भावात्मकता भी आ चुकी थी, पर पद्य में वह व्यवहृत न थी। उसके पास अपने छंद भी न थे। ब्रजभाषा के छंद, कवित्त, सवैया आदि खड़ी बोली के अनुरूप नहीं पड़ते थे। साहित्य सिद्ध वाणी का आग्रही होता है, अतः भारतेंदु ने अपने नाटकों में गद्य तो लिखा खड़ी बोली में, किंतु पद्य ब्रज भाषा में। पर भाषा की उन्नति को सब उन्नतियों का मूल समझनेवाले भारतेंदु को यह असंगति अवश्य अखरती रही होगी, क्योंकि वे बराबर खड़ी बोली के पद्य में अपने प्रयोग करते रहे और उसमें काव्योपयोगिता लाने की सतत चेष्टा करते रहे। यदि उनकी अकाल मृत्यु न होती तो हम उनके नाटकों में खड़ी बोली के पद्य भी देख लेते।

उस समय खड़ी बोली के पास अपने छंद नहीं के बराबर थे। कुछ गीत थे, जो संत-साहित्य से आ रहे थे; कुछ कबीर आदि के रेखते थे, कुछ अमीर खुसरो

की मुकरियाँ थीं, कुछ उर्दू कवियों की गजलें थीं। कुछ शेर, मर्सिए और कुछ ग्राम-गीत। भारतेंदु ने इन्हीं के आधार पर अपना प्रयोग प्रारंभ किया।

भारतेंदु ने 'रसा' नाम से कुछ शेर लिखे, कुछ गजलें लिखीं—

(१) ज़ुल्फ़ों को लेके हाथ में
कहने लगा वह शोख़।
गर दिल को बाँधना हो
तो काकुल से बाँधिए॥
("बुलबुल को बाँधिए तो रगे गुल से बाँधिए" की तरह।)

(२) फिर आई फ़स्ले गुल फिर
ज़ख्म यह रह रह के पकने हैं।
मेरे दाग़े जिगर पर
सूरतें ला ला लहकते हैं।
अभी कम उम्र है हर बात
पर मुझसे झिझकने हैं।

पर इन गजलों और शेरों में न केवल उर्दू के शब्द आए हैं, वरन् भाव और 'तर्ज़ बयान, क़वायद, और वज़्न' सब कुछ आ गए। इनमें हिंदी का पानी न रहा। फलस्वरूप यह प्रयोग हिंदी की दृष्टि से विफल हो गया; क्योंकि ये गजलें हिंदी की न होकर उर्दू की वस्तु हो गईं। यही कारण है कि उनके शेरों और गजलों का अनुकरण उर्दू शायरों ने ही किया। हिंदी में उनकी अनुकृति न हुई।

भारतेंदु के रेखते हिंदी के अधिक समीप हैं और व्यवहार के दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण भी। उनमें खड़ी बोली, ब्रजभाषा और उर्दू की विचित्र संधि है। उनकी भाषा को उस समय भी हिंदुस्तानी कहने में अत्युक्ति न होगी। ऐसा लगता है कि उनमें खड़ी बोली, ब्रजभाषा और उर्दू की त्रिवेणी बह रही है और उसके संगम पर खड़े होकर भारतेंदु एक नवीन काव्य-भाषा का संधान कर रहे हैं—

मोहन पिय प्यारे टुक मेरे ढिग आव।
वारी गई सूरत के बदन तो दिखाव॥
तरस गए अंग अंग गर में लिपटाव।
ए री मैं चेरी मुझे मरत सों जिला॥

भारतेंदु ने अमीर खुसरो की भाँति कुछ मुकरियों की रचना भी की है। प्रधानतः इन मुकरियों की भाषा खड़ी बोली है, ब्रजभाषा का कुछ पुट लिए हुए। परंतु खुसरो की मुकरियाँ जहाँ केवल मनोविलास का साधन थीं, वहाँ भारतेंदु की मुकरियाँ समसामयिक हैं, और कहीं कहीं व्यंगात्मक—

सब गुरुजन को बुरो बतावै।
अपनी खिचड़ी आप पकावै।
भीतर तत्त्व न झूठी तेजी।
क्यों सखि सज्जन, नहिं अंग्रेजी॥
तीन बुलावे तेरह आवैं।
निज निज विपदा रोइ सुनावैं।
आँखो फूटे भरा न पेट।
क्यों सखि सज्जन, नहिं ग्रेजुएट।

इस भाँति मुकरियों को भारतेंदु केवल विनोद के क्षेत्र से हटाकर जीवन की धरती पर ले आए और उन्हें जीवन की अभिव्यक्ति का साधन बनाया।

भारतेंदु ने मुकरी में जो प्रयोग किया, ठीक उसका उलटा प्रयोग मर्सिए में किया। उसे जमाने के अनुकूल बनाने के लिये मुकरी को उन्होंने सामान्य धरातल से उठाकर एक भव्यतर लोक में प्रतिष्ठित किया है, तो अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये मर्सिए को नीचे लाकर कलात्मक ढंग से पटका भी है। यहाँ हम 'उर्दू का स्यापा' की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जिसकी भूमिका में भारतेंदु ने लिखा है—"अलीगढ़ इंस्टिट्यूट गजट और बनारस अखबार के देखने से मालूम हुआ कि बीबी उर्दू मारी गई और परम अहिंसानिष्ठ हो काशी के राजा शिवप्रसाद ने यह हिंसा की—हाय! हाय! बड़ा अंधेर हुआ··············जो हो बहर हाल उर्दू का ग़म वाजिब है तो हम भी यह स्यापे का प्रकर्ण सुनाते हैं।" उन्होंने भविष्य के अक्षरों को कितनी स्पष्टता से पढ़ लिया था!

भारतेंदु की छंद-योजना

[श्री चंद्राकर शुक्ल]

छंदों के प्रयोग में भारतेंदु जी प्राचीन परंपरा में ही आते हैं, परंतु चतुर्मुखी प्रतिभा के कारण वे उसी में सीमित नहीं रह सकते थे। उन्होंने हिंदी छंदों के अतिरिक्त उर्दू और बँगला के छंदों का भी प्रयोग किया। संस्कृत के शार्दूलविक्रीड़ित, वसंततिलका, शालिनी और अनुष्टुप् छंदों का भी प्रयोग किया। इस विषय में उनके दो प्रयोग सर्वथा नवीन हैं—एक तो संस्कृत भाषा में दोहे का प्रयोग और दूसरे संस्कृत भाषा में लावनी का प्रयोग।[1] इस प्रकार उनके छंदों का वर्गीकरण चार विभागों में किया जा सकता है—(१) हिंदी छंद (२) बँगला छंद (३) उर्दू छंद (४) संस्कृत वृत्त।

हिंदी के छंदों में भी उन्होंने पद-शैली, मात्रिक छंद, वर्णिक छंद और जनगीतों की शैलियाँ अपनाईं। पद-शैली, प्रायः समस्त, सूर से मिलती है। पदों के छंदों में विविध टेकों के साथ विष्णुपद (१६, १० मात्राएँ), सरसी (१६, ११ मात्राएँ, अंत में ऽ।), सार (१६,१२, अंत में सम), मरहठा माधवी (१६, १३, अंत में ऽ। ऽ), ताटंक (१६, १४, अंत में सम), वीर (१६, १५ अंत में ऽ।) और सवाई (१६, १६ मात्रा, अंत में सम) का प्रयोग हुआ है। कितनी मात्राओं की टेकों के साथ कौन-कौन छंद पद में प्रयुक्त होते हैं, इसका विवेचन सूर के पदों में किया जा चुका है; अतः यहाँ पुनरावृत्ति परिहार्य है।[2]

वर्णिक छंदों में कवित्त और सवैयों का प्रयोग हुआ है, जिस शैली के कारण वे रीतिकालीन परंपरा में आ जाते हैं। काव्य के क्षेत्र में भारतेंदु अपने को प्रतिष्ठित आदर्शों के अनुकूल ही मानते थे। ब्रजभाषा के साथ परिपक्व और सफल प्रयोग, सवैया और घनाक्षरी, ही उन्होंने अपनाए। सवैयों में दुर्मिल (८ सगण), किरीट (८ भगण), अरसात (७ भगण + १ रगण) और मत्तगयंद (७ भ + ऽऽ)

१—भारतेंदु-ग्रंथावली, भाग २, पृष्ठ ७६६ और ६६६

२—द्रष्ट० लेखक की 'आधुनिक हिंदी काव्य में छंदोयोजना'।

का प्रयोग किया है। ये छंद प्रतिष्ठित और प्रचलित नियम के अनुसार ही हैं, अतः उदाहरणों की आवश्यकता नहीं। घनाक्षरी छंद में मनहरण और रूप घनाक्षरी के अतिरिक्त कुछ नवीन प्रयोग हुए हैं जो सामान्यतः प्रचलित नहीं हैं, परंतु इनका प्रयोग गोस्वामीजी विनयपत्रिका[३] में कर चुके है। यहाँ उनके उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) ८+८+८+४=२८ वर्ण, अंत में SI
अरी हौं बरजि रही, बरज्यौ नहिं मानत,
सबै छोरि कृष्ण-प्रेम, दीप जोरि।[४]

(२) ८+८+८+६=३० वर्ण, अंत में SS
आजु प्राणप्यारी प्रान, नाथ सों मिलन चली,
लखि कै पावस दाम, माजी है सवारी।[५]

इनके अतिरिक्त (८+८+४) वर्णों का प्रयोग भी पाया जाता है।[६] वर्णिक छंदों के ये प्रयोग विभिन्न रागों के लिये किए गए हैं; जैसे, पहला प्रयोग राग विहाग चौताला के लिये किया गया है। घनाक्षरी का मनहरण छंद (३१ वर्ण) चार ताल और यमन राग में भी भारतेंदु ने प्रयुक्त किया है। ठुमरी सहाना के लिये उन्होंने मनहरण के अंतिम १५ वर्णों की टेक देकर उसके साथ मनहरण का प्रयोग किया है—

आजु तोहिं मिल्यौ गोरी कुंजन पियरवा।
काहे बोलै झूठे बैन, कहे देत तेरे नैन,
देखु न बिथुरि रहे, मुख पर बरवा॥[७]

वर्णिक छंदों में उन्होंने बँगला का 'पयार' छंद भी प्रयुक्त किया है, जिसमें ८ और ६ वर्णों के योग से १४ वर्ण होते हैं। यह छंद हिंदी के अनुकूल नहीं है, अतः इसका प्रयोग नुमायशी ढंग से ही हुआ है—

मंद मंद आवै देखो, प्रात समोरन।
करत सुगंध चारों, ओर विकीरन॥[८]

बँगला के अन्य छंदों का प्रयोग उन्होंने बंगला भाषा में ही किया है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

३—वही।
४—भा० ग्रं०, भाग २, पृ० ८२
५—वही, पृ० ११२
६—वही, पृ० १२१
७—वही, पृ० १८२
८—वही, पृ० ६८६

मात्रिक छंदों में दोहा, चौपाई, चौपई (१५ मात्रा, अंत में ऽ।), शृंगार (१६ मात्रा, अंत में ऽ।, प्रारंभ में त्रिकल), विष्णुपद (१६,१० मात्रा), सरसी (१६,११ मात्रा अंत में ऽ।), सार (१६,१२ मात्रा, अंत में सम), ताटंक (१४,१२ मात्रा, अंत में सम) या लावनी, सवाई (१६ + १६ मात्रा, अंत में सम), गीता (१६,१४ मात्रा, अंत ऽ।),[९] कुंडली (दोहा + रोला), और छप्पय (रोला + उल्लाला) प्रचलित छंदों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त नवीन प्रयोगों के उदाहरण व्याख्या-सहित दिए जा रहे हैं—

(१) विजया छंद (१०, १०, १०, १० मात्रा, अंत में ऽ।ऽ) का प्रयोग गंगोदक (८ रगण) के आधार पर हुआ है। इसमें रगणात्मक प्रवाह के कारण तीसरी, आठवीं, तेरहवीं, अठारहवीं, तेईसवीं, अट्ठाईसवीं, तेंतीसवीं, और अड़तीसवीं मात्रा लघु होती है—

आजु उठि भोर वृष-भानु की नंदिनी,
फूल के महल ते, निकसि ठाढ़ी भई।[१०]

(२) झूलना (१०, १०, १०, ७ मात्रा) का प्रयोग प्राचीन है। यह छंद ऊपर के विजया छंद की अंतिम तीन मात्राएँ हटाने से बनता है, लय एक होने के कारण विजया के अनुसार मात्राएँ लघु होती हैं—

मुकुट धर क्रीट धर, पीतपट कटिन पर,
कंठ कौस्तुभ धरन, दुःख हारी॥[११]

दूसरा झूलना (१२, १२, १२, ८ मात्रा) भी प्रयुक्त हुआ है, जिसमें छकल की आवृत्ति होती है जो स्वयं दो त्रिकलों में बँटा होता है। बारहवीं, चौबीसवीं, छत्तीसवीं, और बयालीसवीं मात्रा लघु होती है तथा अंत में रगण होता है—

देखु सखी देखु आजु, कुंजन में नवल केलि,
करत कृष्ण संग विविध, भाँति राधिका॥[१२]

(३) प्लवंगम (८ + १३ मात्रा, अंत ।ऽ।ऽ)। इसका प्रयोग भी पहले के प्रचलित छंदों में नहीं है—

औरै रितु है, गई बयारहु और री।
औरे फूले, फूल और बन ठौर री॥[१३]

९—वही, पृ० ११७
१०—वही, पृ० ५०
११—वही, पृ० ५२
१२—वही, पृ० ६६
१३—वही, पृ० ३७१

(४) यह २२ मात्राओं का (११, ११, अंत में सम, ग्यारहवीं मात्रा लघु) नवीन छंद है जो हंसगति (११, ६) में गुरु जोड़ने से बनता है। यह नहछू में भी प्रयुक्त हुआ है—

आए कहाँ सों आज, प्रात रस भीने हो।
अति जँभात अलसात, लाल रस भीने हो॥[१४]

(५) राधिका छंद (१३, ६, अंत ऽऽ. तेरहवीं मात्रा लघु) की टेक देकर ६ चरणों के छंद का प्रयोग किया है, जिसमें प्रायः १०, १२ मात्रा पर यति आती है—

करि निठुर स्याम सो नेह, सखी पछिताई।
उस निरमोही को प्रीति, काम नहिं आई॥
उन पहले आकर, हम सो आँख लगाई।
हरि हाव भाव बहु, भाँति प्रीति दिखलाई॥
ले नाम हमारा, बंसी मधुर बजाई।
अब हमें छोड़कर, दूर बसे जदुराई॥
कुबरी ने मोहा, रहे वहीं बिलमाई।
उस निरमोही को प्रीति, काम नहि आई॥[१५]

(६) दोहे में थोड़ा परिवर्तन करके पहले और तीसरे चरण में १२ मात्राएँ रख दी हैं। ऐसे दोहे की लघुता के कारण डा० भगीरथ मिश्र ने इसका नाम दोहक रखा है—

एक दिन भवन अकेली, दुपहर बैठी मौन।
आए वेस बनाए, सुंदर राधा रौन॥[१६]

(७) भारतेंदु ने शृंगार, गीता (१४, १२, अंत ऽ।; पाँचवीं, बारहवीं, उन्नीसवीं मात्रा लघु) और दोहे के योग से छंद बनाया है—

हिंडोरे झूलत कुंज कुटीर।
हिंडोरे राधा औ बलबीर॥

१४—वही, पृ० ३७५ १५—वही, पृ० ३६५

१६—वही, पृ० २६६

हिंडोरे सब गोपिन की भीर।
हिंडोरे कालिंदी के तीर॥
कालिंदी के तीर गह्-वर कुंज रच्यौ है हिंडोर।
नव द्रुम लतनि में ग्रंथि दै, दै फूल हैं चहुँ ओर॥
तहँ निबिड़ में सोभा भई, अति ही सुगंध झकोर।
लखि हंस सारस भँवर गुंजत नचत बहु विधि मोर॥
सोभा अति झूलत भई, आजु बृंदाबन मांहिं।
एक उतरहिं एक चढ़हिं पुनि, एक आवहिं एक जाहिं॥[१७]

आगे के छंदों में कवि ने शृंगार के स्थान पर चौपाई, चौपई और हाकलि (१४ मात्रा) का प्रयोग भी किया है, और गीता के स्थान पर हरिगीतिका का।

हिंदी में भुजंगप्रयात (४ यगण) का भी प्रयोग किया है; इस छंद को संस्कृत वृत्तों के वर्गीकरण में मानना चाहिए—

दमामा सनाई बजाओ बजाओ।[१८]

जयदेव के अनुकरण पर कवि ने संस्कृत के मात्रिक गीत छंदों का भी प्रयोग किया है। सार (१६, १२ मात्रा, अंत ऽऽ) का उदाहरण लीजिए—

आश्लिष्यति चुम्बति परिरम्भति पुनः पुनः प्राणेशं।
सात्विकभावोदयशिथिलायित मुक्ताऽकुञ्चितकेशम्॥[१९]

बँगला छंद

हिंदी भाषा में भारतेंदु जी ने केवल पयार (८+६ वर्ण) का ही प्रयोग किया है, पर बँगला भाषा में बंगला के कई छंद प्रयुक्त किए हैं।❋

(१) १२ वर्णों का चरण मानकर छंद का प्रयोग किया है जिसमें ६-६ ६ वर्णों का पर अल्प यति लगती है—

हाय विधि एतो मोरे केन निरदय।
अमूल्य रतन, करिया अर्पन, केन गो हरन, ताहारे कराय।
मम प्रानधन, हृदय रतन, रमनी मोहन, कोथाय गो जाय।[२०]

१७-वही, पृ० १२३ १८—वही, पृ० ८०७
१९—वही, पृ० २९४ २०—वही, पृ० २११

❋ किंतु यहाँ उद्धृत छंद भारतेंदु की प्रेमिका मल्लिका के कहे जाते हैं जो वंग-महिला थी और 'चंद्रिका' नाम से रचना करती थी। —संपा०

(२) पयार की टेक के साथ (८+८) १६ वर्णों का प्रयोग भी किया है, परंतु टेक से मिलनेवाले अंत्यानुप्रास के खंड को ६ वर्ण का रखा है—

हेरिव सतत सखी, कालई बरन।
मने पड़े जेनो सदा, से नील रतन॥
मृग मद दिन गिरे, कज्जल नयन तीरे,
नित्य नील वर्ण चीरे, आच्छादित तन। [२१]

(३) पयार के अंत में एक वर्ण जोड़कर १५ वर्णों का चरण प्रयुक्त किया है—

ए प्रेम राखिते केनो, करेछो जतनो रे।
सेइ प्रेम राखा गिया, यथा बाँधा मनो रे॥[२२]

उर्दू छंद

उर्दू के सभी छंद हिंदी के मात्रिक छंदों में बैठ जाते हैं। उर्दू में वर्णिक छंद नहीं होते, क्योंकि फारसी में छंद 'वजन' पर चलते हैं, वहाँ गणात्मकता मान्य नहीं। हाँ, ये छंद संस्कृत के गणात्मक छंदों में ढाले जा सकते हैं। यह साम्य संस्कृत और फारसी के एक परिवार में होने के कारण है। इस विषय पर विवेचन करने के लिये अधिक स्थान नहीं है, परंतु समस्त उर्दू छंदों को हिंदी के पैमाने से भी नापा जा सकता है; केवल विशेषता यह है कि उर्दू में लघु का दीर्घ और दीर्घ को लघु पढ़ने का सुविधा है। अतः इन छंदों का विश्लेषण हिंदी के मानदंडों से ही किया जाता है।

खड़ी बोली के प्रचार और प्राधान्य के कारण उर्दू भाषा के साथ उर्दू के छंदों ने भी हिंदी कवियों और जनता का ध्यान आकृष्ट किया। भारतेंदु जी ने भी उर्दू के अनेक छंदों का प्रयोग किया।

(१) १६ मात्रा; पहली, तीसरी, नवीं और बारहवीं मात्राएँ लघु होती हैं—

फ़सादे दुनिया मिटा चुके हैं।
हुसूले हस्ती उठा चुके हैं॥[२३]

(२) १७ मात्रा; तीसरी, आठवीं, और ग्यारहवीं मात्रा लघु—

है अजब उसके मुलहो जंग में लुत्फ़
दिल मिला जब तो आँख लड़ती है।

२१—वही, पृ० २१५ २२—वही, पृ० २१६
२३—वही, पृ० ८५५।

देके आँखों में सुरमा वो बोले,

शान पर आज तेग़ चढ़ती है।[२४]

(३) १६ मात्रा (फायलातुन् फायलातुन् फायलुन्); हिंदी में इसे पीयूषवर्ष कहते हैं। इसकी तीसरी, दसवीं और सत्रहवीं मात्रा लघु होती है। दूसरे और चौथे चरण में तुकांत है—

फूल झड़ते हैं ज़ुबां से बात में।

मिस्ल बुलबुल यार की तक़रीर है॥

फ़र्श रह करता हूँ आँख उसके लिये।

खाके पा हक़ में मेरे अकसीर है॥[२५]

(४) २२ मात्रा; पाँचवीं, तेरहवीं, सोलहवीं लघु—

आँखों में लाल डोरे शराब के बदले।

हैं ज़ुल्फ़ छुटीं रुख पर निकाब के बदले॥[२६]

(५) २३ मात्रा; पाँचवीं, छठीं, ग्यारहवीं, बारहवीं, सत्रहवीं लघु—

दिल आतिशे हिज्रां से जलाना नहीं अच्छा।

ऐ शोलारुखो आग लगाना नहीं अच्छा॥[२७]

(६) २४ मात्रा; १२ मात्रा पर यति। पाँचवीं, आठवीं, सत्रहवीं और बीसवीं मात्रा लघु। हिंदी में इसे दिग्पाल छंद कहते हैं—

दिलदार यार प्यारे, गलियों में मेरी आजा।

आँखें तरस रही हैं, सूरत इन्हें दिखा जा॥[२८]

इससे भिन्न २४ मात्रा के छंद में अंत में केवल सम मात्राएँ होती हैं—

उनको शाहंशही दरबार मुबारक होवे।

कैसरे हिंद का दरबार मुबारक होवे॥[२९]

(७) २५ मात्रा; तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं मात्रा लघु होती है—

चंपई गरचे दुपट्टा है तो गुलदार है बेल।

सैरे गुलशन को चले आते हैं गुलशन होकर॥[३०]

२४—वही, पृ० ८५६। २५—वही, पृ० ८६०।
२६—वही, पृ० २०३। २७—वही, पृ० ८५३।
२८—वही, पृ० २०६। २९—वही, पृ० ७४७।
३०—वही, पृ० ८५८।

(८) २६ मात्रा; हिंदी का यह गीतिका छंद है। इसका वजन है—

'फायलातुन् फायलातुन् फायलातुन् फायलुन्'

इसकी तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्रा लघु होती है—

नींद आती ही नहीं धड़के की बस आवाज़ से।
तंग आया हूँ मैं इस पुरसोज़ दिल के साज़ से॥[३१]

(९) ३० मात्रा—हिंदी में इसे से ताटंक कहते हैं।

बाल बिखेरे आज परी तुरबत पर मेरे आएगी।
मौत भी मेरी एक तमाशा आलम को दिखलाएगी॥[३२]

भारतेंदु की प्रतिभा तत्त्वग्राहिणी थी, अतः वे कहीं से भी सुंदर छंदों को ग्रहण करने को तैयार रहते थे। उन्होंने ग्राम-गीतों के प्रभाव से कजली और लावनी की रचना भी की है। देखिए, ग्राम-गीत के आधार बनाई हुई इतनी बड़ी पंक्ति १६ मात्रा के ही अंतर्गत आ जाती है—

प्यारो झूलन पधारो झुकि आए बदरा।
ओढ़ो सुरुख चुनरि तापै श्याम चदरा॥[३३]

इसकी मात्राएँ यों होंगी—

परि झुलन सिधर, झुकि अय बदरा।
अढ़ सुरख चुनरि, तप सम चदरा॥

एक लावनी का उदाहरण और लीजिए। इसे शास्त्रानुसार विष्णुपद (१६, १०) छंद कहते हैं—

बीत चली सब रात न आए, अब तक दिलजानी।
खड़ी अकेली राह देखती, बरस रहा पानी॥[३४]

३१—वही, पृ० ८५७। ३२—वही, पृ० ८५५।

३३—वही, पृ० ४८७। ३४—वही, पृ० ४८८।

चंद्रावली

[श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा]

भारतेंदु की रचनाओं में चंद्रावली का विशेष स्थान है। इसमें उनकी काव्य-रचना का प्रौढ़ रूप दिखाई पड़ता है। साथ ही इस बात को समझने का भी पूरा अवसर मिलता है कि उनमें किसी सिद्धांत को सजीव ढंग से प्रत्यक्ष करने की कितनी क्षमता थी। इस कृति में नाटककार का व्यक्तित्व अधिक स्फुट हुआ है। इसमें उसकी प्रेमचर्या और भावुकता का अच्छा परिचय मिलता है। यहाँ देश-काल की परिधि से परे होकर वह उन्मुक्तावस्था का अनुभव करता प्रतीत होता है। चित्तवृत्ति की एकोन्मुख द्रवता का मंगलमय एवं पुनीत चित्रण ही इस नाटिका का लक्ष्य मालूम पड़ता है। चंद्रावली में प्रेम का आदर्श और उसकी अवांतर स्थितियों का रूप साकार हो उठा है। इसमें भारतेंदु के हृदय की झाँकी और भावप्रवणता का पूरा योग मिलता है।

इसके अतिरिक्त इस नाटिका से इस बात का भी पता लग जाता है कि उनमें केवल शास्त्रीय विधान का ज्ञान ही नहीं था, वरन् वे विधान के प्रयोग में भी पूरे पंडित थे। इस रचना को नाटिका संज्ञा देकर उन्होंने इसका निर्वाह भी अच्छे ढंग से किया है।

परिभाषा के अनुसार नाटिका उपरूपक का इतिवृत्त कवि-कल्पनाश्रित होता है और अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती हैं। इसमें चार अंक रहते हैं। धीरललित नायक कोई प्रख्यात राजा होता है और अंतःपुर से संबंध रखनेवाली अथवा संगीत-प्रेमी राजवंशीया कोई नवानुरागिनी नायिका होती है। महिषी (महारानी) के भय से नायक का प्रेम शंकायुत रहता है और महारानी राजवंश की प्रगल्भ नायिका होती है जो निरंतर मान किया करती है। नायक और नायिका का समागम उसी के अधीन रहता है। नाटिका में वृत्ति कैशिकी होती है और अल्प-विमर्श-युक्त अथवा विमर्शशून्य संधियाँ होती हैं।[1]

१—नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥

नाटिका के उक्त गुण-धर्म के अनुकूल अधिकांश विशेषताएँ इस रचना में मिलती हैं। जिस रूप में चंद्रावली का इतिवृत्त यहाँ स्वीकार किया गया है वैसा इतिहास-पुराण में नहीं मिलता। अवश्य ही कृष्ण और अन्य पात्रों से हम अति प्राचीन काल से परिचित हैं। सारा भागवत संप्रदाय और हिंदी के कवि इस प्रकार के आख्यानों का उपयोग सदैव करते रहे हैं। पर जिस रूप में कथानक का सारा उतार-चढ़ाव और परिस्थिति-योजना इस नाटिका में स्वीकार की गई है वह कवि-कल्पित है, उससे किसी इतिहास-पुराण का संबंध नहीं। पात्रों में स्त्रियों की ही बहुलता है। पुरुष पात्रों में यों तो नारद और शुकदेव भी दिखाई पड़ जाते हैं, पर रचना की व्यापार-शृंखला से उनका कोई संबंध नहीं। इसलिये उनकी गणना पात्रों में नहीं हो सकती। केवल कृष्ण ही एक पुरुष पात्र बच जाते हैं जिनका संबंध फल-प्राप्ति से है। परिभाषा के अनुरूप यह संपूर्ण वस्तु-विधान चार अंकों में विभाजित है। नायक के भी धीरललित[२] होने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। नायिका चंद्रावली आवश्यक धर्मों से संयुक्त है। पट्टमहिषी अथवा महारानी का कृतित्व अथवा स्वरूप प्रायः नहीं के समान है। 'शृंगारे कैशिकी' के अनुसार इस नाटिका में भी कैशिकी[३] वृत्ति का ही सर्वत्र प्रयोग हुआ है और विमर्श संधि[४] का सर्वथा अभाव है। प्रेमी-प्रेमिका के एकोन्मुख मिलन में कोई अंतराय नहीं पड़ने पाया।

स्यादन्तःपुरसंबद्धा संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा॥
संप्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा॥
पदे पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः संधयः पुनः॥

—साहित्यदर्पण, ६। २६९–७२

२—निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्। वही, ३।३४

३—या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारु विलासयुक्ता॥ वही, ६।१२४

४—यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः। वही, ६।७९–८०

वस्तु

प्रथम अंक की कथा चंद्रावली और उसकी अंतरंग सखी ललिता के संवाद से प्रारंभ होती है। आत्मीयतापूर्ण और व्यक्तिगत बातचीत दोनों में चलती है। धीरे-धीरे चंद्रावली अपने मर्म का अवगुंठन खोलती है और अपने प्रेम के निश्चित लक्ष्य का स्पष्ट उल्लेख अपनी सखी से करती है। ललिता भी अपनी सखी की विवशता के कारण पूरी सहानुभूति के साथ उसे सहयोग देने का निश्चय करती है। इस प्रकार नाटिका के फल का बीज तैयार होता है और स्थिति का पूरा परिचय मिल जाता है।

द्वितीय अंक का सारा प्रसाद चंद्रावली की विरहावस्था की कथा और चित्रण है। इसमें विप्रलंभ की विविध अंतर्दशाओं का सजीव और काव्यात्मक वर्णन है। वनदेवी, संध्या और वर्षा के योग से चंद्रावली के विरहोन्माद का जो विवरण यहाँ उपस्थित किया गया है उसमें मात्राधिक्य अवश्य है, पर सभी भावुकता को खुल-खेलने का भी अच्छा अवसर मिलता है। वस्तुतः इस अंक में कार्य की प्रयत्नावस्था का स्पष्ट आभास मिलना चाहिए था। परंतु इसके लिये लेखक ने एक पृथक् अंकावतार[५] की व्यवस्था की है। उसमें प्रकारांतर से अपने प्रियतम के पास भेजे गए चंद्रावली के पत्र को प्रकाशित करके नाटककार ने 'प्रयत्न' नाम की कार्यावस्था की सिद्धि की है। मुख्य क्रिया को इस प्रकार गौण स्थान देना अच्छा नहीं हुआ। विषय की गहनता के अनुरूप उद्योग का प्रसार नहीं होने पाया। प्रयत्न कुछ दबा सा रह गया है। विरह के विस्तार में ही यदि इसी प्रकार के प्रयत्न का कुछ रूप चला दिया गया होता तो कार्य की इस अवस्था को भी बल मिल जाता। फिर भी, चंपकलता अपनी सखी के पत्र को यथास्थान अवश्य ही पहुँचाएगी, इसका निश्चय ही प्रयत्न को सिद्ध कर देता है।

तीसरे अंक में चंद्रावली अपनी अनेक सखियों के साथ उद्यान-विहार के लिये गई मिलती है। इस अंक में भी मात्राधिक्य वर्तमान है और विरह-विदग्धा नायिका के लिये प्रकृति की अपार सुषमा उद्दीपन का काम करती है। वर्षा और झूले के प्रसंग से चंद्रावली का विरहोच्छ्वास जोर पकड़ता है। फिर तो वह साढ़े चार पृष्ठों का स्वगत भाषण तैयार कर देती है। यदि रंगमंच का विचार कम कर दिया जाय और बुद्धिपक्ष की दुर्बलता का ध्यान छोड़ दिया जाय तो भावुकता के

५—अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः।
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः॥ वही, ६।५८

आग्रह का निर्वाह किया जा सकता है। प्रेम की मधुर व्यंजना का प्रसार स्वभावतः पाठक को डूबने नहीं देगा। किसी विरहिणी की करुण स्थिति और उद्गार को सुनने में किसी को अरुचि दिखाने का अधिकार नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रसारगामी काव्यत्व और दुर्बल नाटकत्व से हम प्राचीन काल ही से परिचित रहे हैं। एक ओर लेखक उद्दीपन प्रभाव से आकुल तो है, पर संविधानक की आकांक्षा का ज्ञान भी उसमें बना है और फलप्राप्ति हो, इसके लिये वह आशा की व्यवस्था कर देता है— "हम तीनि हैं सो तीनि काम बाँटि लें। प्यारीजू के मनाइबे को मेरो जिम्मा। यही काम सबमें कठिन है और तुम दोउन मैं सों एक याके घरकेन सों याकी सफाई करावै और एक लालजू सों मिलिबे की कहै।" इस प्रकार सखी-सेना मार्गविरोध को अनुकूल बनाने की चतुर्मुखी योजना तैयार कर लेती है और कार्यसिद्धि की आशा होने लगती है।

चतुर्थ अंक में प्राप्त्याशा नियताप्ति में परिणत होती है। प्रेमी कृष्ण जोगिन के वेश में स्वयं चंद्रावली की बैठक में आते हैं। फिर तो चंद्रावली और उसकी सखी ललिता भी एकत्र हो जाती है। सारा वायुमंडल प्रसन्न एवं अनुकूल बन जाता है और नायिका को सगुन होने लगते हैं। उसको भावोद्रेक होते ही जोगिन प्रकट हो जाती है। इस स्थिति को देखकर निश्चय हो जाता है कि प्रेमी और प्रेमिका का मिलन हो जायगा। कुछ दूर तक गोप्यगोपन क्रिया यों ही चलती है, पर विमर्श का न तो प्रसंग आने पाता और न कोई आशंका ही दिखाई पड़ती। अंत में चंद्रावली गाते-गाते बेसुध होकर गिरा चाहती है कि एक बिजली-सी चमकती है और जोगिन श्रीकृष्ण बनकर गले लगाती है। यों तो इसके उपरांत भी इस फलसिद्धि का विस्तार दिखाया गया है, पर वह सब व्यर्थ है। उसकी कोई विशेष उपादेयता नहीं है।

इस प्रकार नाटिका का सारा कथानक विरह और मिलन की कहानी है।

पात्र

चंद्रावली को छोड़कर अन्य सब पात्र गौण हैं। सखिवर्ग का अपना कोई भिन्न अस्तित्व ही नहीं है। वे सभी साध्य-साधन के रूप में प्रयुक्त हुई हैं, न उनका अपना कोई इष्ट है और न पृथक् व्यक्तित्व ही। क्रिया-व्यापार की शृंखला भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं चली जिससे किसी का स्वरूप स्फुट हो सकता। सखियों के अतिरिक्त राधारानी ज्येष्ठा और श्रीकृष्ण धीरललित नायक हैं—केवल शास्त्रस्थिति-संपादन के लिये। संपूर्ण नाटिका में केवल एक पात्र है—चंद्रावली। वह भी प्रेम के सिद्धांत

और आदर्श की प्रतिभा है। उसका जीवन ऐकांतिक अनुराग की एकनिष्ठ कहानी है। अपने प्रेम में मस्त, प्रेमी पर अखंड विश्वास किए, अपनी साधना में दृढ़, एकरस, एकचित्त, अपने प्रतीक्षा के मार्ग से जाती दिखाई पड़ती हैं। प्रेमी की निष्ठुरता पर जो उपालंभ मिलता है उसमें प्रेम का अनुभूतिमूलक उद्वेग अवश्य है, पर वह भी आक्षेपयुक्त उतना नहीं जितना रसमय और मधुर। कामना-विहीन आत्मसमर्पण तो है ही, उसके साथ प्रियहित-चिंतन चंद्रावली की प्रेमपद्धति को और अधिक निर्मल बना देता है। स्वयं विरह की आनंदमयी तीव्रता का अनुभव करती है, साथ ही भगवान से याचना करती है कि इस प्रकार की उद्वेगपूर्ण स्थिति में प्रिय स्वयं न पड़े और उसके कारण उसका जीवन उस प्रकार की उलझनों में न उलझे जिसमें वह स्वयं पड़ी है। मिलन के बाद तो फिर उसमें कोई अन्य लालसा ही नहीं रह जाती—"और कोई इच्छा नहीं, हमारी तो सब इच्छा की अवधि आपके दर्शन ही ताईं है।"

रस

इस नाटिका में शृंगार रस की ही निष्पत्ति हुई है। वियोग के उपरांत प्रेमी प्रेमिका का संयोग हो जाता है। इस प्रकार दोनों पक्षों की पूर्ण अभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिला है। इतना अवश्य है कि अधिकांश भाग में वियोग-काल की ही विभिन्न अवस्थाओं का प्रसार हुआ है। प्रथम तीनों अंकों में वियोग-जनित काम-दशाओं का स्फुट रूप दिखाई पड़ता है। अभिलाष, चिंता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता और मृति (मरण) की सभी दशाएँ यथास्थान सुंदर विस्तार में वर्णित मिलती हैं। इसमें एकांगिता का आक्षेप किया जा सकता है, पर उसमें दोष नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वियुक्त स्थिति में ही व्यक्ति और परिस्थितिजन्य वैलक्षण्य का स्फुरण भली भाँति दिखाना संभव है। संयोगकाल का विवरण अनुमान गम्य होने से विशेष आकर्षक नहीं होता। इसीलिये रसिकजन जिस उत्साह से वियोग पक्ष का चित्रण करते हैं उससे संयोग का नहीं। दूसरा कारण यह भी है कि दुःख, करुणा इत्यादि के कथन से सात्विक द्रवता जितने शीघ्र उत्पन्न और प्रसारित होती है उतनी आनंद और सुख से नहीं। वियोग के बाद का संयोग कविजन इसी अभिप्राय से अधिक अपनाते हैं।

यहाँ चंद्रावली और कृष्ण आलंबन विभाव हैं। उद्दीपन विभाव के अंतर्गत वर्षा, घन, बिजली, संध्या, मोर, पपीहा, चंद्रमा इत्यादि प्रकृति के नाना रूप और

व्यापार आए हैं। अनुभावों का चित्रण तो अति सजीव हुआ है। स्थान-स्थान पर अश्रु, स्वरभंग, स्तंभ, प्रलय इत्यादि सात्विक अनुभावों का रूप दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त, आकुल भाव से दौड़ना, केशों का खुल जाना, इत्यादि क्रियाएँ–कायिक अनुभाव–तो सर्वत्र ही मिलती चलती हैं। संचारी भावों की भी विविधता संपूर्ण नाटिका भर में फैली दिखाई पड़ती है। उन्माद, दैन्य, मोह, निर्वेद, चिंता, स्मृति इत्यादि अनेक संचारी भावों की यथास्थान स्थापना की गई है, जो रस को संघटित करने में विशेष सहायक हुए हैं। इस प्रकार शृंगार रस की निष्पत्ति के सभी अवयव उपयुक्त स्थलों पर घटित हो गए हैं।

प्रेम तत्त्व

इस नाटिका में रति भाव का जैसा वर्णन हुआ है उससे इतना तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि कृतिकार ने चंद्रावली के प्रेम के द्वारा एक आदर्श की स्थापना की है। एकनिष्ठ प्रेम और निष्काम रति की जैसी विवृति चंद्रावली में दिखाई गई है वह परमतत्त्व और पारमात्मिक प्रेम की ओर संकेत करती है। उसकी ऐकांतिक तन्मयता और आत्मसमर्पण में आध्यात्मिक पूर्णता की ध्वनि है। 'ऐसा जान पड़ता है कि इस नाटिका में जिस प्रेम का चित्र अंकित किया गया है, वह भारतेंदु जी के अपने भक्तिभाव का प्रतिबिंब है।' डा० श्यामसुंदरदास के इस निष्कर्ष में औचित्य है, क्योंकि अपने समर्पण में स्वयं भारतेंदु जी ने स्वीकार किया है—'इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं, जो संसार में प्रचलित है।' गोपाल की सांप्रदायिक भक्ति और पूजा लेखक के घराने में प्रतिष्ठित थी और स्वयं उनकी अनुरक्ति पूजाभाव की ओर विशेष थी, इस दृष्टि से चंद्रावली नाटिका के प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण हो जाता है।

भारतेंदु के नाटक—एक दृष्टि

[श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़]

नाटक साहित्य के विकास का चिह्न है, समाज की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ माध्यम है। जिस समाज का बौद्धिक स्तर नीचा होगा उसके साहित्य में नाटक का अभाव होगा। भावों को शब्दों में अंकित करना कला है, उन्हें अभिनय द्वारा दूसरों के संमुख शब्दों में व्यक्त करना और बड़ी कला है और मूक अभिनय कला की एक सीमा है। भारतीय वाङ्मय में नाटक की परंपरा बहुत प्राचीन है। सबसे प्राचीन उपलब्ध लक्षण-ग्रंथ भरत के नाट्यशास्त्र में भी ऐसे नाटकों का संकेत मिलता है जो अब प्राप्य नहीं है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि भरत पाणिनि से पहले हुए थे। वाल्मीकि उनसे भी पहले हुए थे और रामायण में नाटक की चर्चा है। जैसे—

वादयन्ति तथा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च॥

स्पष्ट ही है कि आज से कई सहस्र वर्ष पहले भी हमारे यहाँ नाटक के द्वारा समाज की रूप-रेखा खींची जाती थी, चाहे वह मनोरंजन के लिये ही क्यों न हो।

मुसलमानों के आने तक नाटक की रचना होती थी। यों तो अठारहवीं शती तक भी यदा-कदा संस्कृत में नाटकों की रचना होती रही, किंतु नवीं-दसवीं शती के बाद वह प्रायः बंद हो गई। पर नाटक अभिनीत होते थे। मुसलमानी शासन-काल में, जब कि जीवन-संग्राम, धर्मरक्षा और आर्थिक संकट की समस्याएँ प्रतिदिन विकराल रूप धारण कर संमुख खड़ी रहती थीं, नाटक का अवसान हो गया। संस्कृत भाषा तथा साहित्य सिंहासन से नीचे ढकेल दिए गए। मुसलमानों की संस्कृति में नाटक के लिये कोई स्थान ही न था, इसलिये किसी मुसलमान साहित्यकार ने नाटक की रचना न की; उनके लिये संभव भी नहीं था। भारतीय भाषाओं में भी कोई स्तुत्य प्रयत्न नहीं हुआ। परिस्थिति अनुकूल न थी।

भारतेंदु जब वयस्क हुए, अंग्रेजों का प्रभुत्व इतना बढ़ गया था कि उनकी संस्कृति की छाया हमारे ऊपर पड़ने लगी थी। भारतेंदु ने स्वयं एक बार बंगाल की

यात्रा में एक नाटक देखा और उनके ऐसे प्रतिभावान् व्यक्ति ने वहीं निश्चय कर लिया कि साहित्य के अन्य साधनों की अपेक्षा नाटक अधिक बलशाली रूप में मेरी भावनाओं को वहन कर सकेगा। भारतेंदु के पहले, हिंदी में दो-एक नाटक लिखने का प्रयत्न हुआ था, किंतु वह केवल इस बात की सूचना है कि अंग्रेजों की देखादेखी हिंदी साहित्यकार भी नाटक की आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे।

साहित्यिक भारतेंदु के दो रूप थे। एक तो वह भारतेंदु जिसका हृदय रस से परिपूर्ण था—वह रस शृंगार तथा उसी के ऊर्जस्वित स्वरूप भक्ति में फूट पड़ा। दूसरा रूप प्रचारक भारतेंदु का था। देश के राजनीतिक पतन तथा विकृत सामाजिक अवस्था की ओर उनका ध्यान गया और वे नाटकों द्वारा उसे सुधारना चाहते थे। इसी रूप में वे हिंदी के नाटकों के अभाव की पूर्ति भी करना चाहते थे, यह इसी से प्रकट है कि उन्होंने अनेक नाटकों का हिंदी में अनुवाद भी किया।

उनके कुल सत्रह नाटक उपलब्ध हैं जिनमें सात तो स्पष्ट अनुवाद हैं। दो-एक ऐसे हैं जो दूसरी भाषा के नाटकों की छाया हैं। उनपर विचार करने की आवश्यकता नहीं। हाँ, अनुवाद की समीक्षा से इतना अवश्य पता लगता है कि उनका अनुवाद करने का ढंग सरल था और उन्होंने मूल की आत्मा की रक्षा की है। जैसे 'मुद्राराक्षस' में विशाखदत्त-रचित 'मुद्राराक्षस' से भाषा को छोड़ और अंतर नहीं दिखाई पड़ता, और जिसने विशाखदत्त का मूल नाटक नहीं पढ़ा उसे अनुवाद में भी मूल का आनंद आता है।

'दुर्लभबंधु' शेक्सपियर के 'मरचंट ऑव वेनिस' का अनुवाद है। अनुवाद को भारतीय वातावरण में ढालने की चेष्टा की गई है। इस कारण नाटक में कुछ अस्वाभाविकता आ गई है। 'मरचंट ऑव वेनिस' में शायलक के रूप में यहूदियों की चारित्रिक विशेषताओं को केंद्रीभूत किया गया है। यूरप में मध्यकालीन युग में ईसाइयों और यहूदियों में गहरी तनातनी थी। ईसाई शक्तिशाली थे, इसलिये यहूदियों की कृपणता तथा सूदखोरी पर अनेक पुस्तकें लिखी गईं और उनकी क्रूरता तथा पैशाचिकता का अतिरंजित वर्णन किया गया। 'मरचंट ऑव वेनिस' को भारतीय बनाने में नामकरण इत्यादि सुंदर हुए हैं। अंटोनियो को अनंत, बसानियो को बसंत, पोर्शिया को पुरश्री बना दिया गया है। भाषा में अनुवाद की कृत्रिमता नहीं है। किंतु घटनाएँ भारत के साँचे में ठीक नहीं बैठतीं। 'कासकेट' (मंजूषा) वाला दृश्य इटली के लिये ठीक हो सकता है। भारत में इस प्रकार विवाह नहीं होता। स्वयंवर भी होता था तो वीरता की परख होती थी। नियति से जुआ नहीं

खेला जाता था। केवल अनुवाद कहा जाता तब तो यह बात खप जाती, किंतु भारतीय बनाने के कारण घटना कुछ खटकती है। भारतेंदु का शैलाक्ष शेक्सपियर का शायलाक है। वह जैन है। कहा नहीं जा सकता, भारतेंदु ने जैन को क्यों ऐसा पात्र बनाया। उनके समय में जैन लोग अर्थपिशाच होते थे, मुझे पता नहीं। फिर भी यह कहना होगा कि अनुवाद में निस्संदेह सुंदरता है, रस है।

साहित्यिक दृष्टि से उनके मूल नाटकों पर ही विचार करना अधिक उपयुक्त होगा। उनके नाटकों के संबंध में यह जान लेना चाहिए कि सामाजिक घटनाओं का उनमें समावेश नहीं। इस कारण सामाजिक घटनाओं का आघात उनके पात्रों पर नहीं पड़ता। उनके चरित्र घटनाओं के ज्वारभाटे में नहीं डूबते उतराते। समाज की व्यवस्था ही उस समय ऐसी नहीं थी कि मनुष्य उसका सजीव अभिनेता बन सके; तब नाटक में क्या दिखाया जाता। हाँ, धार्मिक आदर्शों से प्रेरित भारतेंदु अवश्य रहे हैं। भारत में सदा काव्य, कथा, नाटकों को यहाँ के पुराण इतिहास से प्रेरणा मिली है और साहित्यकारों ने इस अक्षय भांडार का खुलकर उपयोग किया है।

भारतेंदु के नाटकों में सबसे परिपक्व 'सत्यहरिश्चंद्र' है। पुराने कथानक के आधार पर लिखा गया है। सत्य के विजय का आदर्श है। इसके नायक हरिश्चंद्र हैं। विश्वामित्र खलनायक हैं। नाटक का ढंग पुराना है। चलते हुए रोलर के समान घटनाएँ चलती रहती हैं। हरिश्चंद्र 'दारु जोषित की नाईं' नियति की डोर के सहारे नाचते रहते हैं, परिस्थितियों से लड़ते नहीं। लड़ें किससे? धर्म का पथ है—बीहड़, कंटकाकीर्ण, भयानक। उसपर चलना असिधारा पर चलना है। हरिश्चंद्र सब कुछ धैर्य के साथ झेलते चले जाते हैं। यही नाटक की विशेषता है। हरिश्चंद्र का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। विश्वामित्र परीक्षक हैं। परीक्षा कठोर है। परंतु पुराने नाटकों से आजकल के नाटकों की कसौटी बिलकुल भिन्न है; 'हरिश्चंद्र' को उसपर नहीं कसा जा सकता। पुराने आदर्श से हरिश्चंद्र सुंदर नाटक है। एक और बात। आज भी हरिश्चंद्र का अभिनय होता है तो लोगों को प्रिय लगता है। पुराने युग के नाटकों की यह विशेषता है। धार्मिक नाटकों को तो छोड़ दीजिए, 'शकुंतला' और 'हैमलेट' भी आज के दर्शकों को रसपूर्ण जान पड़ते हैं, यद्यपि बीस साल पहले के लिखे कितने ही नाटक आज खेले जायँ तो फीके लगेंगे। समाज द्रुत गति से बदलता जा रहा है, इसलिये आज के लिखे नाटक, जो शाश्वत तत्त्वों के आधार पर नहीं लिखे जायँगे, बीस पचीस वर्ष बाद बेकार हो जायँगे। 'हरिश्चंद्र' में ऐसे ही शाश्वत तत्त्वों की प्रतिष्ठा है, जिनका मनुष्य सदा आदर करता रहा है और करता रहेगा।

प्रयाग की दृष्टि से भी 'हरिश्चंद्र' प्राचीन ढंग का है। यह चार अंकों में समाप्त हुआ है। कोई अंक दृश्यों में विभाजित नहीं है। सभी अंकों के दृश्य ऐसे हैं जिन्हें अंग्रेजी में 'डीप सीन' कहते हैं। मंच की दृष्टि से इस प्रकार का नाटक खेलने में कठिनाई होती है। जैसे, तीसरे अंक में काशी का दृश्य दिखाया गया है। वहाँ महाराज हरिश्चंद्र घूमते हैं अपने को बेंचने के लिये। उसीके बाद श्मशान का दृश्य है जिसमें हरिश्चंद्र कंबल ओढ़े लाठी लिए आते हैं। इस परिवर्तन के लिये समय अपेक्षित है जिसका ध्यान नहीं रखा गया है। प्रयोग की दृष्टि से यह दोष होते हुए भी नाटक कई बार सफलता से खेला जा चुका है और यह उनके लिखे सब नाटकों में उत्तम है

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में प्रहसन के रूप में मांस खानेवालों तथा मद्यपों पर व्यंग है। उसमें ऐसे लोगों की भी खिल्ली उड़ाई गई है जो पाखंडी और धूर्त हैं। उसी में एक स्थान पर चित्रगुप्त एक राजा के संबंध में कहते हैं—'यह महापापी है किंतु इसने जो कुछ किया, सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।' यम पूछते हैं—'प्रतिष्ठा कैसी ? धर्म और प्रतिष्ठा से क्या संबंध ?' तब चित्रगुप्त कहते हैं—"महाराज, सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार करता है उसको 'स्टार आफ इंडिया' की पदवी मिलती है।" निश्चय ही यह संकेत राजा शिवप्रसाद की ओर है और उपर्युक्त राजा के विषय में जो कुछ कहा गया है वह राजा शिवप्रसाद को ही लक्ष्य करके।

'चंद्रावली' को प्रेम-भक्ति से पूर्ण नाटिका कह सकते हैं। इसमें प्रेम की विह्वलता का चित्रण है और इसमें भारतेंदु का रसज्ञ हृदय उमड़कर छलका है। एक और विशेषता इसमें है। सभी पात्र स्त्रियाँ हैं।

'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी' और 'अंधेर नगरी' में देश-प्रेम और राष्ट्रीय जागरण के चिह्न हैं। 'भारत दुर्दशा' इनके नाटकों में सबसे यथार्थवादी है। उसमें विभिन्न लोगों का जो चित्रण किया गया है वह भारतेंदु के सामने ही नहीं, बहुत दिनों तक ठीक वैसा ही रहा है जैसा भारतेंदु के समय। 'भारत जननी' किसी दूसरे नाटक की छाया है। 'अंधेर नगरी' में भी भारतेंदु का व्यक्तित्व स्पष्ट है। सच पूछा जाय तो जो नाटक स्वतंत्र रूप से भारतेंदु की रचनाएँ है उनमें भारतेंदु की क्रांतिकारी आत्मा बोल रही है। कुछ लोगों का कहना है कि भारतेंदु उच्छृंखल थे। उच्छृंखलता क्रांति के एक डग आगे की सीढ़ी है। व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक विद्रोह भारतेंदु की विशेषता थी, जो उनके स्वतंत्र नाटकों में स्पष्ट हुई है।

पौराणिक कथानकों पर जो नाटक रचे गए—जैसे सत्यहरिश्चंद्र, चंद्रावली, सतीप्रताप—उनमें भारतेंदु के विचरण करने के लिये क्षेत्र नहीं था। कथा की ही परिधि में उन्हें घूमना पड़ा। हाँ, लेखनी की प्रौढ़ता, सरल सुंदर गद्य का उदाहरण अवश्य मिला। उन कथाओं को नाटक का रूप दिया गया, यह नया प्रयोग था। दृश्य काव्य के ढाँचे में बँधने से वे कथाएँ अधिक प्रभावपूर्ण हुईं और इस कारण नाटक सफल हुए। किंतु राष्ट्रीय अथवा सामाजिक प्रश्नों को लेकर जो नाटक बने उनमें अपने मन की आकांक्षाओं को भारतेंदु ने स्थान दिया है। वे भावनाएँ भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले तक ज्यों की त्यों थीं। हमारी कायरता, विवशता, चाटु-कारिता, देशद्रोह, सब वही थे जो भारतेंदु के समय। भारतेंदु के सच्चे चित्र इन्हीं नाटकों में हैं। एक अधूरा नाटक 'प्रेम योगिनी' है। वह काशी के जीवन का जीता-जागता और मनोरंजक चित्र है। काशी के एक वर्ग का आज भी वही हाल है। भारतेंदु ने उनका जीवन सूक्ष्म ढंग से देखा है।

भारतेंदु ने नाटक इसी लिये लिखे कि उनके द्वारा उनके विचारों का प्रचार हो। उनके सामने कौन कौन नाटक खेले गए, इसका ठीक पता नहीं लगता। किंतु समाज की दृष्टि त्रुटियों पर पड़े, यह मुख्य हेतु उनके नाटक रचने का जान पड़ता है।

नाटक में और बातों के अतिरिक्त कथोपकथन आवश्यक अंग है। अभिनय में वह सजीवता लाता है। भारतेंदु के नाटकों के संवाद प्रसाद लिए हुए ओजपूर्ण हैं। वे नीरस निर्जीव नहीं जान पड़ते। भारत-दुर्दशा, भारत-जननी, अंधेर-नगरी में इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। चंद्रावली के कथन भी रस के अनुकूल बड़े मधुर और प्रभावशाली हैं।

भारतेंदु ने नाटक की रचना करके हिंदी साहित्य की गति बढ़ाई यह तो है ही, उन्होंने ऐसे नाटक लिखे जो यदि आज भी अभिनीत हों तो देखनेवालों को वही रस मिलेगा जो आज से पचास वर्ष पहले दर्शकों को मिला होगा।

भारतेंदुयुग और उनकी साहित्यधारा

[श्री कमलापति त्रिपाठी]

जब जब धरित्री के किसी क्षेत्र में परिस्थितियां अथवा कुरीतियां और कुपरंपराओं के कारण मनुष्य की बुद्धि व्यामोह में पड़ जाती है, चिन्तन-परंपरा असंतुलित एवं जीवन की गति-विधि अव्यवस्थित हो जाने के कारण मानव अपने लक्ष्य को देखने में असमर्थ हो जाता है, उस समय लोकोत्तर विभूतियां इस वसुंधरा पर अवतीर्ण होती हैं। अपनी असामान्य, पर लोकमंगलकारी, प्रतिभा के विलास द्वारा वे पथभ्रांत मानवता के पथ को आलोकित कर उसे प्रशस्त बनाती हैं। ऐसे ही व्यक्ति देश के नायक, राष्ट्र के उद्धारक एवं लोक के कल्याणकर्ता होते हैं।

धर्म, राजनीति, साहित्य, दर्शन सभी क्षेत्रों में सदा से ऐसी विभूतियाँ अवतरित होती रही हैं। राम और कृष्ण, कपिल और कणाद, बुद्ध और महावीर, ईसा और मोहम्मद, शंकर और रामानुज आदि, जाने कितने विभूतिमान् सत्व इस धरा पर हमारा पथ-प्रदर्शन करने के लिये आए। वाल्मीकि और कालिदास, सूर और तुलसी, जायसी और कबीर भी ऐसी ही विभूतियों में से हैं। उन्होंने अपनी काव्य-साधना एवं साहित्य-चिंतन द्वारा लक्ष्यभ्रष्ट मानवता को, कर्त्तव्यविमूढ़ भारतीय जनता को, युगानुरूप संदेश सुनाकर जीवन की नैतिक गतिविधि को अपनाने की स्फूर्त्ति दी।

भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र भी उन्हीं साहित्यिक महर्षियों की परंपरा के एक अंश हैं। उन्होंने व्यामोह-पतित हिंदू जाति और भारतीय जनता को अपने विस्मृत आत्मगौरव का पाठ पढ़ाया; उन्हें अपनी कर्तव्य-विमुखता से हटकर कर्मठ जीवन अपनाने का संदेश सुनाया; सुषुप्ति का मोहक इंद्रजाल भंग कर जागरण की समस्याओं को समझने और सुलझाने की प्रेरणा दी; विघातक रूढ़ियों, कुप्रथाओं एवं कुसंस्कारों पर प्रहार करके स्वच्छंद, पर निरंकुशता-रहित, दृष्टि से संस्कृति की मूलात्मा को समझने और उसे युगानुसारी रूप में ढालकर अपनी उन्नति करने के लिये यत्नशील होने की उनमें चेतना भर दी। यदि हम उनके व्यक्तित्व का यथार्थ रूप देखना चाहें तो उनके साहित्य में बिखरी हुई इन समस्त चेतनाओं का विस्तृत

अध्ययन करना नितांत आवश्यक है। भारतेंदु जी एक क्रांतिकारी युगप्रवर्तक महापुरुष थे। इस विशाल देश की दुर्दशा और उसके आत्मगौरव का दयनीय क्षय देखकर उनका सरल और करुण हृदय कराह उठा था।

भारतेंदु ने देखा कि अनेक शताब्दियों की दासता से दलित होने पर भी राष्ट्र की जनता ने एक बार सं० १६१४ के सिपाही-विद्रोह में जागरण की अँगड़ाई ली, परंतु उस समय अपने सौभाग्य और कूटनीतिक चातुर्य के बल से अंग्रेजों ने भारत का जो निर्दलन किया उसके परिणाम स्वरूप राष्ट्र बलहीन होकर पुनः गाढ़ निद्रा में सो ही नहीं गया, उसने अपना सर्वस्व खो दिया। उसका राष्ट्र-संमान, उसका संस्कृति-गर्व एवं उसका जातीयताभिमान समूल नष्ट हो गया। दलित और उत्पीड़ित राष्ट्र के निवासी सांस्कृतिक चेतना और आत्मसंमान के लुप्त हो जाने पर अपने शासकों के ही परमुखापेक्षी होकर उन्हीं के अनुकरण में अपने को कृतकृत्य मानने लगते हैं। दासता की यह स्थिति सबसे निराशाजनक और भयावह है। भारतेंदु के समय में भारत की यह अवस्था प्रारंभ हो चुकी थी। नीतिकुशल शासक जाति ने अपनी विजय को स्थायी बनाने के लिये शासित जाति के शील, संस्कार और परंपराओं को विनष्ट करने का संकल्प कर लिया था। उन्होंने मधुर और मंद विष का प्रयोग आरंभ किया। नौकरी, पद और प्रतिष्ठा का प्रलोभन भारतीयों को धीरे धीरे अपनी ओर आकृष्ट करने लगा।

भारतेंदु जी का सरल भावुक कवि हृदय भारत की यह दुर्दशा देखकर तड़प उठा। उन्होंने भारतीय समाज को कुप्रथाओं और कुसंस्कारों से मुक्त करना तथा उसमें भारत की प्राचीन संस्कृति और राष्ट्रसंमान की भावना उत्पन्न करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। वे चाहते थे कि देश जागे, पर जागकर केवल पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में न पड़े वरन् वह अपने अतीत की आलोकमयी, शिवमयी सुंदर संस्कृति-परंपरा का आत्म-साक्षात्कार करे, अपने इतिहास की उन त्रुटियों का अध्ययन करे जो हजारों वर्षों से भारत को पतन-गर्त में गिराती आ रही हैं, अपने वर्तमान का और विश्व की उन्नत जातियों के गुणों का निरीक्षण करे और अपने भविष्य की युगानुसारी लोककल्याणकारी व्यवस्था की एक कल्पना करके अपनी जीवनचर्या निर्धारित करे। भारतेंदु ने उस चाटुकारिता और दमन के युग में भी अपनी भावनाओं को निर्भीकता के साथ व्यक्त किया और अपने उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साहित्य-साधना को अपना मार्ग बनाया। उनके जीवन की साहित्यिक साधना का लक्ष्य द्विविध था। एक लक्ष्य तो जैसा ऊपर कहा जा चुका है,

समाज को, देश को, उद्बुद्ध कर उसे आचरणीय कर्तव्य का ज्ञान कराना, और दूसरा लक्ष्य था 'स्वान्तःसुखाय' रचना करना।

उनके जीवन का आचरण और उनकी साहित्य-साधना, दोनों ही दोनों मार्गों से प्रवाहित हुईं। एक ओर अपनी प्रचुर साहित्यिक रचनाओं और प्रेरणाओं द्वारा वे राष्ट्र और समाज की सेवा करते रहे और दूसरी ओर कृष्ण के अनन्य भक्त होने के कारण भक्ति की मनोरम और ललित रचनाओं का अपार भांडार हिंदी साहित्य को समर्पित करते रहे।

सामाजिक और राष्ट्रीय रचनाएँ

समाज और राष्ट्र की सेवा के लिये राष्ट्र को संघटित और सशक्त बनाने के लिये उनकी सबसे प्रमुख घोषणा थी—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल॥

भारतेंदु एक देशी राष्ट्रभाषा की कल्पना के मौलिक प्रवर्त्तकों में से थे। उन्होंने इस रहस्य का साक्षात्कार किया कि बिना भाषा का माध्यम लिये, न तो राष्ट्र में एक सूत्रता ही आ सकती है और न अंग्रेजों को सब कुछ समझने की दास मनो-वृत्ति दूर हो सकती है। इसी कारण उन्होंने हिंदी की प्रतिष्ठा के लिये आजीवन-सेवा का व्रत लिया और भाषाभिमान के जागरण द्वारा जनता के हृदय में राष्ट्र-गौरव का भाव जगाने के अनवरत प्रयास में वे लगे रहे। हिंदी की सेवा के लिये उन्होंने जो तपश्चर्या की, उसका विकसित परिणाम है कि स्वतंत्र भारत में हिंदी आज राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो सकी।

राष्ट्रोद्धार और समाजसुधार के लिये भी वे आजीवन अपनी साधना में लगे रहे। उनकी प्रथम पत्रिका 'कविवचनसुधा' का उद्देश्य-वाक्य, जो 'सत्यहरिश्चंद्र' नाटक का भरत-वाक्य भी है—खलगनन सों सज्जन दुखी मत होहिं, इत्यादि—उनकी अंतर्भावना का ज्वलंत साक्षी है।

यद्यपि यह पत्रिका कुछ दिन पश्चात बंद हो गई, पर इसके अनेक अंकों में धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर क्रांतिकारी लेख निकलते थे। उस युग में कर-दुःख से छुटकारे की बात कहना, नारियों का पुरुष-समानाधिकार-प्राप्ति का समर्थन करना, भारत की स्वतंत्रता की कामना करना, समाज और राजनीति में बड़े साहस और बड़ी निर्भीकता का कार्य था।

स्त्रियों को पढ़ाने-लिखाने और उन्हें योग्य बनाकर गार्गी एवं मैत्रेयी की शृंखला में कड़ी बनाकर जोड़ने की चर्चा करना, उनके लिये 'बालाबोधिनी' निकालना, हरिश्चंद्र जैसे क्रांतिकारी कवि और साहित्यिक नेता का ही कार्य रहा।

भारत की दुर्दशा देखकर उनका हृदय जब क्रंदन कर उठा तब उन्होंने समस्त राष्ट्र को मिलकर रोने के लिये आह्वान किया—

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥

'भारत दुर्दशा' में उन्होंने राष्ट्र की त्रुटियों का पूर्ण चित्र खींचा है। किस प्रकार अविद्या, आलस्य, अकर्मण्यता, मदिरापान, रोग, सत्यानाश, निर्लज्जता, दुर्भाग्य (दुर्दैव), महामारी, पारस्परिक द्वेष, निराशांधकार, छूआछूत, उपधर्म-वृद्धि आदि का साम्राज्य चारों ओर बढ़ता जा रहा था, इसकी पर्याप्त चर्चा उस नाटक में हुई है। सामाजिक कुरीतियों के विषय में वे कहते हैं—

शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रकटि चलाए।
जाति अनेकन करी, नीच अरु ऊँच बनाए।
खान पान संबंध, सबन सों बरजि छुड़ाए।
जन्मपत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीतिबल नास कियो सब।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्‌यो।
विधवा-ब्याह निषेध कियो, विभिचार प्रचार्‌यो॥
रोकि विलायत-गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किए हिंदू घबराई।
अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन-प्रीति छुड़ाय।
किए तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय॥

इसी प्रकार जितने दोष, जितनी त्रुटियाँ और ह्रास के कारण हैं उन सबकी चर्चा उन्होंने अपने साहित्य में की है। उन्हें दूर करने का अथक प्रयास किया है।

उन्होंने काव्य की परंपरा की रक्षा करते हुए भी उसका परिष्कार कर राष्ट्र और समाज की मंगलविधायिनी कला के रूप में उसे हमारे सामने उपस्थित किया।

अनेक सामाजिक विषयों पर ही रचना नहीं की, वरन् अनेक भाँति की भी रचना की। उन्होंने सामान्य जनता को रुचनेवाली लोकप्रचलित शैलियों को अपनाकर, अपनी कविता को जनरुचि के अनुकूल बनाकर अपने लक्ष्य की साधना की। ग्राम-कविता की ग्राम्य, अश्लील और संकुचित भावनाओं को दूर हटाने के लिये उन्होंने कोरे उपदेश ही नहीं दिए, अश्लील होली के 'कबीर' और 'कजली' न गाने का उपदेश मात्र नहीं दिया, वरन् साहित्यिक सुरुचिपूर्ण और सरल 'कबीर', 'होली', 'लावनी', 'कजली' आदि की रचना स्वयं करके एवं दूसरों से कराके उसके रिक्त स्थान पर साहित्यिक प्रत्यादेश प्रस्तुत किया।

स्वांतःसुखाय साहित्याराधन

पर सब कुछ करते रहने पर भी उस भक्त कवि का भक्तिभरित अंतस्तल अपने उपास्य देव राधारमण मनमोहन की मधुर भावना से सदा आत्मविभोर रहा। साहित्य-साधना द्वारा समाज-मंगल और राष्ट्र-कल्याण का अनवरत प्रयास करते रहने पर भी वह साहित्यतपस्वी अपने उपास्य देव को काव्यकुसुमों की सुरभिमयी मंजुलमाला के द्वारा सर्वदा पूजता रहा। भक्तसर्वस्व, कार्त्तिकस्नान, प्रेमसरोवर, कृष्णचरित्र, विनयप्रेमपचासा, होली, (हिंदी) गीतगोविंद और प्रेममाधुरी आदि बीसों रचनाओं से अपने इष्ट की उपासना वे निरंतर करते रहे। जिस अपूर्व 'घन', सच्चिदानंद घन, को देखकर उनका मन-मयूर नाच उठता था—

> भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
> जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

वह घन सचमुच उनकी अंतरात्मा में नित्य अथोर सुरस बरसाया करता था। उनकी भक्ति की रचनाओं के आरंभ में लिखित समर्पण-वक्तव्यों को यदि पढ़ा जाय तो उनकी मधुरा भक्ति का प्रणयपूर्ण आत्मसमर्पण भाव अक्षर-अक्षर से टपकता दिखाई देगा।

राधाकृष्ण की मनोहर जोड़ी देखकर वे कैसे प्रेम-विभोर हो जाते हैं—

> नैन भरि देखि लेहु यह जोरी।
> मनमोहन सुंदर नटनागर श्री वृषभानु किशोरी।
> कहा कहूँ छवि कहि नहिं आवै, वे साँवर यह गोरी॥
> ये नीलांबर सारी पहिने, उनको पीत पिछौरी।
> एक रूप, एक बेस, एक वय, बरनि सकै कवि को री!
> 'हरीचंद' दोउ कुंजन ठाढ़े, हँसत करत चितचोरी।

हरिश्चंद्र जी के गेय पद सचमुच ही बड़े रमणीय, मनोहर और भावपूर्ण हैं। कृष्णभक्ति-साहित्य में इनके पद अष्टछाप के कवियों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। मनमोहन की मधुर गाथा जिस भावुकता और साहित्यिक लालित्य के साथ भारतेंदु ने गाई है वह सूर, मीरा आदि दो चार कवियों को छोड़ अन्यत्र दुर्लभ है। मथुरावासी कृष्ण की बेरुखी देखकर गोपी की वाणी में कवि कह उठता है—

दीनदयाल कहाइ कै धाइ कै दीनन सों क्यों सनेह बढ़ायो।
त्यौं 'हरिचंदजू' बेदन मैं करुनानिधि नाम कहो क्यौं गनायो।
एती रुखाई न चाहिए तापै, कृपा करिकै जेहि कौ अपनायो।
ऐसो ही जो पै सुभाव रह्यौ, तो गरीबनेवाज क्यों नाम धरायौ।

उद्धव के 'ब्रह्म' के प्रति गोपियों की भावना को अनेक कवियों ने व्यक्त किया है। उनसे भारतेंदु की भी तुलना कर देखिए—

वह व्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन है हमहूँ पहिचानती हैं।
पै बिना नंदलाल बिहाल सदा 'हरिचंद' न ज्ञानहिं ठानती हैं।
तुम ऊधौ यहै कहियौ उनसों हम और कछू नहिं जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं।

और यदि उस साहित्य-तपस्वी के अंतश्चक्षु देश और राष्ट्र की सेवा में, साहित्य द्वारा उसके उद्धार और सुधार में, निरंतर लगे रहने पर भी अपने 'प्यारे प्रिय' को अनवरत देखते ही रहते थे तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

तात्पर्य यह कि श्री भारतेंदु सचमुच एक साहित्यिक तपस्वी, निर्लिप्त पर कृष्ण के परम भक्त साधक थे और उनकी साहित्य-साधना की गंगा-यमुना सी बहती हुई मंजुल धारा ने शीतलता, शांति और समृद्धि का हिंदी साहित्य को जो वरदान दिया उसके लिये हम सदा उनके ऋणी रहेंगे।

भारतेंदु की भारतीयता

[श्री चंद्रबली पांडे]

जिसके जन्म पर किसी 'ईश्वर' ने आशीर्वाद दिया था—

धनाधीश बाबू श्री गोपालचंद्र जू के गृह
पाय के जनम जस पायो है तुरत ही।
कोविद कविंद्र गुनी निगुनी धनी ह्वै देहिं
आसिष अमेष वै विसेष हरखत ही।
कहैं कवि 'ईश्वर' सुमोद पितु मातु हिय
बाढ़त विनोद गोद माहिं दरसत ही।
ऐसो सुत जीवै जुग जुग जग जाहिर ह्वै
जाचक अजाचक भे जाके जनमत ही॥

और जिसके निधन पर किसी 'हुस्ना' ने लिखा था—

कौन अब पुस्तक छपाय पढ़वैहैं हाय!
राग रागिनी की रीत भाषत नितै गयो।
कोऊ ना दिखात नेक हिंदू में समझदार,
जैसो 'हरिचंद' करि कीरति छितै गयो।
प्रेम के प्रवाह में बहनहार आछो आज
काल-ग्राह तीखे दंत धोखे धरि लै गयो।
कैसे नैन लखब सुस्याम घुघुरारे बार,
हाय! 'नागरी' के नाह! छोंड़ि कै किते गयो?

और जिसके जीवन में किसी फिरंगी पिंकाट ने कहा था—

विनय हमारे भारतेंदु हरिचंद जू सों,
नखत कविंद्र सों अनंद रहिबो करौ।
सींचि बसुधा को निज सुखद सुधा की धार,
यार उपकारन के भार सहिबो करौ।

दूर करि सारो अंधकार जगती तल को,
सीतल कै सुजस अपार लहिबो करौ।
चाहते चकोरन कों कोरन कृपा के चाहि,
ऐबो चहुँ ओर सों सप्रेम कहिबो करौ॥
पर उपकार में उदार अवनी में एक,
भाखत अनेक यह राजा हरिचंद हैं।
विभव बड़ाई बपु बसन बिलास लखि,
कहत यहाँ के लोग बाबू हरिचंद हैं।
चंद कैसो अमित अनंदकर आरत को,
कहत कविंद यह भारत के चंद हैं।
कैसे अब देखैं? को बतावै? कहाँ पावैं हाय!
कैसे वहाँ आवैं? हम कोई मतिमंद हैं॥
श्रीयुत सकल कविंद कुल, नुत बाबू हरिचंद।
भारत-हृदय-सतार नभ, उदय रहो जनु चंद॥

उस भारत-हृदय भारतेंदु की भारतीयता का लेखा क्या? वह सचमुच भारत का इंदु है। इसी से तो उसके सखा 'प्रेमघन' का विषाद है—

सींचि 'कवि-वचन-सुधा' की सुधा सों जहान,
कवि - कुल - कैरव विकासमान कै गयो।
'हरिश्चंद्र - चंद्रिका' की चंद्रिका प्रकाशि नभ,
हिंदी ते तिमिर उरदू को करि छै गयो।
कविता कलानि को बढ़ाय रसिक चकोर
ललचाय हिंद सिंधु को उछाह दै गयो।
भारत को साँचो चंद साँचो हरिचंद सम,
साँचो चंद सम हरीचंद सो अथै गयो॥

प्रेमघन' ने बहुत कुछ सोच समझ कर लिख दिया कि—

रहे अहैं फिर होयँगे, सुकवि चंद हरचंद।
हिंद-चंद हरिचंद सो, नहिं कवि चंद अमंद॥

इसका कारण केवल एक मित्र की भावुकता ही नहीं, स्वयं भारतेंदु की कविता की कुछ विशेषताएँ भी हैं। भारतेंदु कहते हैं—

न आया वो दिलबर औ आई घटा,
तो हसरत की बस दिल पै छाई घटा।
चढ़ा शाम को बाम पर गर वो माह,
शफ़क़ का नया रंग लाई घटा।
तहे ज़ुल्फ़ तेरी ये बिजली नहीं,
चमकती है बिजली है छाई घटा।
बहाने से बिजली के छेड़ा मुझे,
नया राग परदे में लाई घटा।
मुझे तेरी ज़ुल्फ़ों का ध्यान आ गया,
जो देखी सियह सिर पै छाई घटा।
ज़मीं है 'हरीचंद' ग़ज़लें पढ़ो,
'रसा' देखो कैसी है छाई घटा॥

'रसा' की इस रचना को देखकर कोई कह नहीं सकता कि भारतेंदु की भारतीयता केवल 'हिंदी' तक ही सीमित थी और वे 'उर्दू' को फूटी आँख से भी नहीं देखा चाहते थे। 'रसा' के नाम से उनकी अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं। एक दूसरी रचना में 'भाषा' 'तथा' 'उर्दू' के रंग की धूपछाँह की भाँति देखिए। कहते हैं—

चमक में बर्क के उस बर्कवश की याद आई है।
घुटा है दम घटा है जाँ घटा जब से ये छाई है।
कौन सुने कासों कहों, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत हैं, ए बदरा बदराह॥
बहुत इन ज़ालिमों ने आह अब आफ़त उठाई है।

इसका अंत है—

ऐसो पावस पाइहू, दूर बसे ब्रजराइ।
आइ धाइ 'हरिचंद' क्यों, लेहु न कंठ लगाइ॥
'रसा' मंज़ूर मुझको तेरे क़दमों तक रसाई है।

फिर भी उनको 'उर्दू' की धाँधली से तंग आकर साहस के साथ 'उर्दू का स्यापा' लिखना पड़ा था, जिसकी अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

बात फ़रोशी हाय हाय, वह लस्सानी हाय हाय।
चरब ज़ुबानी हाय हाय, शोख़ बयानी हाय हाय।
फिर नहिं आनी हाय हाय॥

अस्तु, हमें भारतेंदु की भारतीयता में उर्दू को भी स्थान दिखाई देता है, पर उसके अनुचित दावे को नहीं। उर्दू के प्रति उनका यह क्षोभ सकारण था—

भोज मरे अरु विक्रमहू किनको अब रोइ कै काव्य सुनाइए।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रंथन नीर डुबाइए।
राजा भए सब स्वारथ पोन अमीरहू हीन किन्हैं दरसाइए।
नाहक देनी समस्या अबै यह ग्रीषमै प्यारे हिमंत बनाइए॥

'उर्दू' से हिंद का हित करना ग्रीष्म को हेमंत बनाना नहीं तो और क्या है। कौन पारखी उसका साथ दे सकता है? भारतेंदु की दृष्टि में—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

और इसी से भारत की भारतीयता भरी है उसकी भारती हिंदी में। क्योंकि—

पढ़ो लिखो कोउ लाख बिधि, भाषा बहुत प्रकार।
पै जबही कछु सोचिहौ, निज भाषा अनुसार॥

अतएव—

सुत सों तिय सों मीत सों, भृत्यन सों दिन रात।
जो भाषा मधि कीजिए, निज मन की बहु बात॥
ताकी उन्नति के किए, सब बिधि मिटत कलेस।
जामें सहजहि दैस को, इन सबको उपदेस॥

किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य भाषाओं से सर्वथा मुँह मोड़ लो। वस्तुतः करना यह चाहिए—

सबको सार निकारि कै, पुस्तक रचहु बनाइ।
छोटी बड़ी अनेक विध, विविध विषय की लाइ॥

कहा जा सकता है कि उर्दू भी तो मुसलमान भाइयों की 'निज भाषा' है फिर उसकी उन्नति में बाधा क्यों? परंतु पहले तो उर्दू सभी मुसलमान भाइयों की भाषा नहीं; दूसरे भारतेंदु ने एक भाषा के रूप में उर्दू का विरोध किया ही नहीं। वे मुसलमानों की उन्नति कम नहीं चाहते थे। 'बलिया के व्याख्यान' में वे मुसलमानों को कैसी प्यार-भरी झिड़की देते हैं—"मीर हसन की मसनवी और 'इंदरसभा' पढ़ाकर छोटेपन ही से लड़कों को सत्यानाश मत करो। होश सम्हाला नहीं कि पट्टी पार ली, चुस्त कपड़ा पहना और गजल गुनगुनाए—

शौक तिफ्ली से मुझे गुल की जो दीदार का था,
न किया हमने गुलिस्ताँ का सबक याद कभी।

भला सोचो कि इस हालत में बड़े होने पर वे लड़के क्यों न बिगड़ेंगे, अपने लड़कों को ऐसी किताबें छूने भी मत दो। अच्छी से अच्छी उनको तालीम दो। पिनशिन और वजीफा या नौकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखलाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मिहनत करने की आदत दिलाओ। सौ सौ महलों का लाड़ प्यार, दुनिया से बेखबर रहने की राह मत दिखलाओ।"

५ नवंबर सन् १८८४ ई० को अपने उसी व्याख्यान में भारतेंदु जी ने जो कुछ कहा वह आज भी बड़े काम का है। मुसलमानों से तो कहा ही, पर हिंदुओं से भी कुछ कहा—

"भाई हिंदुओ ! तुम भी मतमतांतर का आग्रह छोड़ो। आपुस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिंदुस्तान में रहे चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो वह हिन्दू। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मरट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मी, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिसमें तुम्हारे यहाँ बढ़े, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देस में रहे, वह करो। देखो जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली हैं वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंगलैंड, फरासीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दीआसलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमेरिका की बिनी है, जिस लंकिलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंगलैंड का है। फरासीस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी की बनी चरबी की बत्ती तुम्हारे सामने बल रही है। अब तो नींद से चौंको। अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत रक्खो। अपने देस में अपनी भाषा में उन्नति करो।"

कहा नहीं जा सकता कि कितने लोगों ने इस क्रांतदर्शी कवि की वाणी पर कान दिया, पर बलिया की सन् '४२ की क्रांति तो कहती है कि धरती के भी कान होते हैं। क्योंकि उसी भाषण में भारतेंदु ने यह भी कहा था—

"धर्म में, घर के काम में, बाहर के काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल-चलन में, शरीर के बल में, मन के बल में, समाज में, बालक में, युवा में, वृद्ध में,

स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारतवर्ष की सब अवस्था, सब जाति, सब देश में उन्नति करो। सब ऐसी बातों को छोड़ो जो तुम्हारे इस पथ के कंटक हों, चाहे तुम्हें लोग निकम्मा कहें, या नंगा कहें; कृस्तान कहें या भ्रष्ट कहें; तुम केवल अपने देश की दीन दशा को देखो और उनकी बात मत सुनो।

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः।
स्वकार्यं साधयेत् धीमान् कार्यध्वंसो हि मूढ़ता॥

जो लोग अपने को देशहितैषी लगाते हों वह अपने सुख को होम करके, अपने धन और मान का बलिदान करके, कमर कसके उठें। देखादेखी थोड़े दिन में सब हो जायगा। अपनी खराबियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देश की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को वहाँ वहाँ से पकड़ पकड़ कर लाओ। उनको बाँध बाँध कर कैद करो......कुछ मत डरो। जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जायँगे, दरिद्र न हो जायँगे, कैद न होंगे, वरंच जान से न मारे जायँगे तब तक कोई देश भी न सुधरेगा।" उसी बलिया में उसी समय उन्होंने यह भी कहा था—

"बहुत लोग यह कहेंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती, बाबा हम क्या उन्नति करेंगे, तुम्हारा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनका बहुत भूल है, इंगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के काँटों को साफ किया।"

सारांश यह कि उस व्याख्यान में भारतेंदु ने सूक्ष्म रूप से बहुत कुछ ऐसा कह दिया जिसका भेद आगे चलकर प्रकट हुआ, और पेट की गाथा तो आज और भी प्रबल हो उठी है, पर 'जतन' और 'उपाय' पर लोगों का ध्यान कितना जा रहा है? इसी से तो सच्चे मानव से भारतेंदु का यह भी कहना है—

क्यों बे क्या करने जग में तू आया था, क्या करता है।
गरभ-बास को भूल गया सुध मरनहार पर मरता है।
खाना पीना सोना रोना और विषय में भूला है।
यह तो सूअर में भी हैं तू मानुस बनि क्या फूला है।
एक बात पशुओं में बढ़कर तुझसे पाई जाती है।
तू ज्ञानी हो पापी है वहाँ पाप-गंध नहिं लाती है।

जो विशेष था तुझमें पशु से उसे भूल तू बैठा है।
तो क्यों नाहक हम मनुष्य हैं इस गरूर में ऐंठा है।
जान बूझ अनजान बना है देखी नहिं पतियाता है।
'हरीचंद' अब भी हरि-पद भज क्यों अवसरहि गँवाता है॥

किंतु उनके इस 'हरि-पद भज' का यह अर्थ नहीं कि भारत को भुलाकर भगवान् को भजो। भगवान् तो भारत से ही बना है। वे अपने भगवान से कहते हैं—

डूबत भारत नाथ वेगि जागो अब जागो।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो।
महा मूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो।
कृपा दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो॥
अपनो अपनायो जानिकै, करहु कृपा गिरिवर-धरन।
जागो बलि बेगहि नाथ अब देहु दीन हिंदुन सरन॥

नाथ को जगाने की आवश्यकता यों पड़ी कि—

सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात पीअत गंगा जल॥
धन बिदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकिल हत रचि न सकत कल॥
जीवत बिदेस की वस्तु लै, ता बिनु कछु नहि करि सकत।
जागो जागो अब साँवरे, सब कोउ रुख तुमरो तकत॥

उनकी आंतरिक कामना है कि—

सब देसन की कला सिमिटि कै इतही आवै।
कर राजा नहि लेइ प्रजन पै हेत बढ़ावै॥
गाय दूध बहु देहिं तिनहिं कोऊ न नसावै।
द्विजगन आस्तिक होहि मेघ सुभ जल बरसावै॥
तजि छुद्र बासना नर सबै, निज उछाह उन्नति करैं।
कहि कृष्ण राधिकानाथ जय, हमहूँ जिय आनंद भरैं॥

यदि ऐसा न हुआ, तो किसी कोरे भक्त को भले ही भगवान् के नाम से तोष प्राप्त हो जाय, पर हरिश्चंद्र को तो नहीं हो सकता। तभी तो वह 'भारतेंदु' ठहरा।

भारतेंदु का यह उद्‌बोधन ध्यान देने योग्य है—

जागो जागो रे भाई !
सोअत निसि बैस गँवाई, जागो जागो रे भाई ॥
× × × ×
अबहूँ चेति, पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई।
फिर पछिताए कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहौ मुँह बाई ॥

'भारतभाग्य' के इस आदेश पर ध्यान देकर यदि भारतवासी अपनी 'बची बड़ाई' को भी खो न देंगे तो निश्चय ही वह दिन भी आएगा और शीघ्र ही आएगा जिसे देखने को आँखें आज भी बिछी हैं; पर उस बड़ाई का बोध कैसे हो? इसी को लक्ष्य करके भारतेंदु जी ने 'बादशाह-दर्पण' की भूमिका में लिखा है—"जब से यहाँ का स्वाधीनता सूर्य अस्त हुआ उसके पूर्व समय का उत्तम शृंखलाबद्ध कोई इतिहास नहीं है। मुसलमान लेखकों ने जो इतिहास लिखे भी हैं उनमें आर्य-कीर्ति का लोप कर दिया है। आशा है कि कोई माई का लाल ऐसा भी होगा जो बहुत सा परिश्रम स्वीकार करके एक बेर अपने 'बाप-दादों' का पूरा इतिहास लिखकर उनकी कीर्ति चिरस्थायी करेगा।"

भारत-भूषण भारतेंदु की इस कामना की पूर्ति परतंत्र भारत में न हो सकी तो कोई बात नहीं, पर स्वतंत्र भारत में उसका अपूर्ण रह जाना कलंक की बात है। पर किया क्या जाय? आज के कवि का भी प्रायः यही प्रस्ताव हो रहा है कि यूरप की छाया बनो। 'भारत दुर्दशा' नाटक में 'कवि' का व्यंगपूर्ण प्रस्ताव था—"मुहम्मद शाह के भांड़ों ने दुश्मन की फौज से बचने का एक बहुत उत्तम उपाय कहा था। उन्होंने बतलाया कि नादिरशाह के मुकाबले में फौज न भेजी जाय। जमना-किनारे कनात खड़ी कर दी जायँ। कुछ लोग चूड़ी पहने कनात के पीछे खड़े रहें। जब फौज इस पार उतरने लगे, कनात के बाहर हाथ निकाल कर उँगली चमकाकर कहें—'मुए इधर न आइयो। इधर जनाने हैं।' बस सब दुश्मन हट जायँगे।' यही उपाय भारतदुर्दैव से बचने को क्यों न किया जाय?" पर जब कुछ विवाद उठा तो कवि ने दूसरा प्रस्ताव किया—"अच्छा तो एक उपाय यह सोचो कि सब हिंदू मात्र अपना फैशन छोड़कर कोट-पतलून इत्यादि पहर जिसमें जब दुर्दैव की फौज आवे तो हम लोगों को योरोपियन जानकर छोड़ दे।" आज भी बहुत कुछ इसी न्याय का पालन हो रहा है। हमारे कितने ही नए कवि और साहित्यिक यूरोपीय रीति-नीति और सिद्धांतों के ही पोषक बन

रहे हैं। परंतु 'भारतेंदु' जैसे क्रांतदर्शी कवि का कहना कुछ और है। उसका भरत-वाक्य है—

> खलगनन सों सज्जन दुखी मत होहिं, हरिपद रति रहै।
> उपधर्म छूटैं, सत्त्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै।
> बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
> तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै॥

'ग्राम कविता' का अर्थ यहाँ 'ग्राम-गीत' नहीं समझ लेना चाहिए। भारतेंदु का भाव 'ग्राम्य' अथवा आजकल की बानी में गँवार या अश्लील से है। जो हो, 'सत्यहरिश्चंद्र' के इस 'भरत-वाक्य' के साथ 'अंधेर नगरी' के इस 'समर्पण' को भी दृष्टि में रखकर काम करें तो सचमुच भारतेंदु हरिश्चंद्र की वह भारतीयता सिद्ध हो जिसको देखने के निमित्त उन्होंने इतना कुछ किया था। उसका मुख्यांश है—

> नर सरीर में रत्न वही जो पर दुख साथी।
> खात पियत अरु स्वसत स्वान मंडुक अरु भाथी॥
> तासों अब लौं करी, करी सो, पै अब जागिय।
> गो श्रुति भारत देस समुन्नति मैं निन लागिय॥
> साँच नाम निज करिय कपट तजि अंत बनाइय।
> नृप तारक हरि-पद भजि साँच बड़ाई पाइय॥

यही कारण है कि उनकी मृत्यु पर 'प्रेमघन' को कहना पड़ा—

> राजा औ सितारे हिंद राय बहादुर आन-
> रेबिल खिताब लै खराब जग ह्वै गयो।
> लेक्चरर एडीटर सेक्रेटरी रिफार्मर,
> जाय कौंसल मैं कोऊ निज नाम कै गयो।
> पेट द्रव्य काज भए हाकिम अनेक यानै,
> निदरि सबैई देश-हित करते गयो।
> भारत को शोभा-सिंधु, भारत को बंधु साँचो,
> भारत को चंद 'हरिचंद' सो अथै गयो॥

अस्तु, 'श्रीधर' की बानी में—

> जब लौं भारत भूमि मध्य आरज कुल बासा,
> जब लौं आरज धर्म माहिं आरज बिस्वासा,

जब लौं गुन आगरी नागरी आरज बानी,
जब लौं आरज बानी के आरज अभिमानी,
तब लौं यह तुम्हरौ नाम थिर, चिरजीवी रहिहै अटल।
नित चंद सूर संग सुमिरिहैं, हरिचंदहु सज्जन सकल॥

आप 'चंद' और 'सूर' को एक साथ 'हरिश्चंद्र' में पा सकते हैं। वह दिन दूर नहीं जब 'हरिश्चंद्र' का पूरा अध्ययन होगा और लोग उनको भी कुछ समझ सकेंगे। कितने लोग हैं जो जानते हैं भारतेंदु के मर्म को? उसी ने तो सबसे पहले ललकार कर कहा था--

कोरी बातन काम कछु, चलिहै नाहिंन मीत।
तासों उठि मिलि कै करहु, बेग परस्पर प्रीत॥
परदेसी की बुद्धि अरु, वस्तुन को करि आस।
परबस ह्वै कब लौं कहौ, रहिहौ तुम ह्वै दास॥
काम खिताब किताब सौं, अब नहिं सरिहै मीत।
तासों उठहु सिताब अब, छाँड़ि सकल भय भीत॥
निज भाषा, निज धरम, निज मान करम व्यौहार।
सबै बढ़ावहु बेगि मिलि, कहत पुकार पुकार॥
लखहु उदित पूरब भयो, भारत-भानु प्रकास।
उठहु खिलावहु हिय-कमल, करहु तिमिर दुख नास॥

सचमुच 'भारत-भानु' का 'प्रकाश' किंवा 'स्वराज्य' तो हो गया, दासता जाती रही। पर सभी प्रकार से उन्नत न होने के कारण 'हृदय-कमल' कहाँ खिला और 'दुःख' का नाश भी कहाँ हुआ? फिर भी ऐसा होकर रहेगा, इस दृढ़ निश्चय के साथ हमारी सफलता में संदेह क्या?

चयन

भारतेंदु की रचनाओं से कुछ चुने हुए पद्य और गद्य-खंड यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं जिनसे उनका भक्ति एवं प्रेम से परिपूर्ण हृदय, उनका प्रकृति-प्रेम, उनकी धार्मिक उदारता, विविधोन्मुखी प्रवृत्ति, कवित्व-शक्ति तथा उनकी भाषा-शैली की विशेषताएँ प्रस्फुटित होती हैं।

पद्य

१

देखहु मेरी नाथ ढिठाई।
होइ महा अघ-रासि रहत हम चहत भगत कहवाई॥
कबहूँ सुधि तुमरी आवै जो छठे-छमाहें भूले।
ताही सों मन मानि प्रेम अति रहत संत बनि फूले॥
एक नाम सों कोटि पाप को करन पराछित आवैं।
निज अघ बड़वानलहिं एकही आँसू बूँद बुझावैं॥
जो व्यापक सर्वज्ञ न्याय-रत धरम-अधीस मुरारी।
'हरीचंद' हम छलन चहत तेहि साहस पर बलिहारी॥१॥

आजु हम देखत हैं को हारत।
हम अघ करत कि तुम मोहिं तारन को निज बान बिसारत॥
होड़ परी है तुम सों हम सों देखैं को प्रन पारत।
'हरीचंद' अब जात नरक मैं कै तुम धाइ उबारत॥२॥

तरन मैं मोंहि लाभ कछु नाहीं।
तुमरेई हित कहत बात यह गुनि देखत मन माहीं॥
तुमरेहु जिय अब लौं बाकी यहै हौंस चलि आई।
कै कोउ कठिन अघी पावैं तो तारि लहैं बड़िआई॥
बहुत दिनन की तुमरी इच्छा तेहि पूरन मैं आयो।
करहु सफल सो हम सों बढ़ि कोउ पापी नहिं जग जायो॥
लेहु जोर अजमाइ आपुनो दया-परिच्छा लीजै।
हे बलबीर अघी 'हरिचंदहिं' हारि पीठि जिनि दीजै॥३॥

प्रभु मैं सेवक निमक हराम ।
खाइ खाइ कै महा मुटैहौं करिहौं कछू न काम ।।
बात बनैहौं लंबो चौड़ी बैठ्यो बैठ्यो धाम ।
तनहुँ नाहिं इत उत सरकैहौं रहिहौं बन्यो गुलाम ।।
नाम बेचिहौं तुमरो करि करि उलटो अघ के काम ।
'हरीचंद' ऐसन के पालक तुमहिं एक घनश्याम ।।४।।

कंत है बहुरूपिया हमारो ।
ठगत फिरत है भेस बदलि जग आप रहत है न्यारो ।।
बूढो ज्वान जती जोगिन को स्वांग अनेकन लावै ।
कबहूँ हिंदू जैन कबहुँ अरु कबहुँ तुरुक बनि आवै ।।
भरमत वाके भेदन में सब भूले धोखा खात ।
'हरीचंद' जानत नहिं एकै ह्वै बहुरूप लखात ।।५।।

यह पहिले ही समुझि लियो ।
हम हिंदू हिंदू के बेटा हिंदुहि को पयपान कियो ।।
तब तोहि तत्त्व सूझिहै कहँ लौं पहिलेहि सों बनि आपु रहे ।
जनम करम में हरिहिं मानिकै खोए जे जगतत्त्व लहे ।।
मेरो मेरो काहे कै भूले अपुनो हठहिं भुलात नहीं ।
'हरीचंद' जो यह गति है तो फिर वह नहीं दिखाय कहीं ।।६।।

यारो यह नहिं सच्चा धरम ।
छू छू कर या नाक मूँद कर जो कि बढ़ाया भरम ।।
बंधन ही में डालेंगे यह बुरे भले सब करम ।
प्रान नहीं सुधरा तो कोरा बैठे धोओ धरम ।।
झूठे साधन छोड़ो जी से दीन बनो तुम परम ।
'हरीचंद' हरि-सरन गहो इक यही धरम का मरम ।।७।।

जैन को नास्तिक भाखै कौन ?
परम धरम जो दया अहिंसा सोई आचरत जौन ।।
सतकर्मन को फल नित मानत अति विवेक कै भौन ।
तिनके मतहिं विरुद्ध कहत जो महामूढ़ है तौन ।।

सब पहुँचत एकहि थल चाहौ करौ जौन पथ गौन।
इन आँखिन सों तो सबही थल सूझत गोपी रौन ॥
कौन ठाम जहँ प्यारो नाहीं भूमि अनल जल पौन।
'हरीचंद' ए मतवारे तुम रहत न क्यों गहि मौन ॥८॥

युक्ति सों हरि को का संबंध ?
बिना बात ही तरक करैं क्यों चारहु दृग के अंध ॥
युक्तिन को परमान कहा है ये कबहूँ बढ़ि जात।
जाको बात फुरै सो जीतै यामें कहा लखात ॥
अगम अगोचर रूपहिं मूरख युक्तिन में क्यों सानै।
'हरीचंद' कोउ सुनत न मेरी करत जोई मनमानै ॥९॥

पियारो पैए केवल प्रेम में।
नाहिं ज्ञान मैं नाहिं ध्यान मैं, नाहिं करम कुल नेम में ॥
नहिं भारत में नहिं रामायन, नहि मनु में नहिं वेद में।
नहिं झगरे में नहीं मुक्ति में, नहीं मतन के भेद में ॥
नहिं मंदिर में नहिं पूजा मे, नहिं घंटा की घोर में।
'हरीचंद' वह बाँध्यो डोलत, एक प्रीति के डोर में ॥१०॥

२

जिहि लहि फिर कछु लहन की, आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन, प्रेम बरन यह दोय ॥१॥
प्रेम प्रेम सब ही कहत, प्रेम न जान्यौ कोय।
जो पै जानहिं प्रेम तो, मरै जगत क्यों रोय ॥२॥
प्रेम सरोवर नीर है, यह मत कीजौ ख्याल।
परे रहैं प्यासे मरैं, उलटी याँ की चाल ॥३॥
प्रेम सरोवर की यहै, तीरथ विधि परमान।
लोक वेद को प्रथम ही, देहु तिलांजलि दान ॥४॥
प्रेम सकल स्रुति-सार है, प्रेम सकल सुख-मूल।
प्रेम पुरान प्रमान है, कोउ न प्रेम के तूल ॥५॥

वृथा नेम तीरथ धरम, दान तपस्या आदि।
कोऊ काम न आवई, करत जगत सब बादि ॥६॥

ज्ञान करम सों औरहूँ, उपजत जग अभिमान।
हठ निहचै उपजै नहीं, बिना प्रेम पहिचान ॥७॥

३

करिकै अकेली मोहिं जात प्राननाथ अबै
कौन जानै आय कब फेरि दुख हरिहौ।
औध को न काम कछू प्यारे घनश्याम, बिना
आपकैं न जीहैं हम जो पै इतै धरिहौ॥
'हरीचंद' साथ नाथ लेन मैं न मोहिं, कहा
लाभ निज जीय में बताओ तो बिचरिहौ।
देह संग लेते तो टहलहू करत जातो
ए हो प्रान-प्यारे प्रान लाइ कहा करिहौ॥१॥

रोकहिं जौ तो अमंगल होय औ प्रेम नसै जो कहैं पिय जाइए।
जौ कहैं जाहु न तौ प्रभुता जौ कछू न कहैं तौं सनेह नसाइए।
जौ 'हरिचंद' कहैं तुमरे बिन जीहैं न तौ यह क्यौं पतिआइए।
तासौं पयान समै तुमरे हम का कहैं आपै हमैं समझाइए॥२॥
हम तो सब भाँति तिहारी भई तुम्हैं छाँड़ि न और सों नेह करैं।
'हरिचंद जू' छाँड़यो सबै कछु एक तिहारोई ध्यान सदाई धरैं॥
अपने को परायो बनाइ कै लाजहु छाँड़ि खरी बिरहागि जरैं।
सब ही सहैं नाहिं कहैं कछु पै तुव लेखे नहीं या परेखे मरैं॥३॥

आजु लौं न आए जो तौ कहा भयो प्यारे याकों
सोच चित नाहिं धारि मति सकुचाइए।
औधि सों उदास ह्वै कै गमन तयार यह
तातें अब लाज छोड़ि कृपा करि धाइए।
'हरीचंद' ये तो दास आपुही के प्रान, कछू
और न कियो तो अब एतो ही निभाइए।
चाहत चलन अकुलाइ कै बिसासी इन्हैं
आइ प्रान-प्यारे जू बिदा तो करि जाइए॥४॥

आजु लौं जौ न मिले तो कहा हम तौ तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं।
जो 'हरिचंद' भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा के समै सब कंठ लगावैं ॥५॥
सदा व्याकुल ही रहैं आपु बिना इनको हू कछू कहि जाइए तो।
इक बारहि तोहिं न देख्यो कभू तिनको मुखचंद दिखाइए तो।
'हरिचंद जू' ये अँखियाँ नित की हैं बियोगी इन्हैं समुझाइए तो।
दुखियान को प्रीतम प्यारे कबौं बहराइ कै धीर धराइए तो ॥६॥
पहिले बिनु जाने पिछाने बिना मिलीं धाइकै आगे बिचारे बिना।
अपुने सों जुदा ह्वै गईं तुरतै निज लाभ औ हानि सम्हारे बिना।
'हरिचंद जू' दोष सबै इनको जो कियो सब पूछे हमारे बिना।
बरिआई लखौ इनकी उलटी अब रोवहिं आपु निहारे बिना ॥७॥

इन दुखियान को न चैन सपनेहू मिल्यो
तासों सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।
प्यारे 'हरिचंद जू' की बीती औधि जानि प्रान
चाहत चले पै ये तो संग ना समायँगी।
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहिं याते
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछतायँगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरस तुम्हारे हाय
मरे हू पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी ॥८॥

४

मंद मंद आवै देखो प्रात समीरन।
करत सुगंध चारों ओर विकीरन॥
गात सिहरात तन लगत सीतल।
रैन निद्रालस जन-सुखद चंचल॥

नेत्र सीस सीरे होत सुख पावै गात।
आवत सुगंध लिए पवन प्रभात॥
पराग को मौर दिए पच्छी बोल बाज।
ब्याहन आवत प्रात-पौन चल्यौ आज॥

आप देत थपकी गुलाब चुटकार।
बालक खिलावै देखो प्रात की बयार॥

जगावत जीव जग करत चैतन्य।
प्रान-तत्त्व सम प्रात आवै धन्य धन्य॥

गुटकत पच्छी धुनि उड़े सुख होत।
प्रात-पौन आवे बन्यौ सुंदर कपोत॥

नव-मुकुलित पद्म-पराग के बोझ।
भारवाहो पौन चलि सकत न सोझ॥

चटकैं गुलाब फूल कमल खिलत।
कोई मुख बंद करैं परन हिलत॥

गावत प्रभाती बाजै मंद मंद ढोल।
कहूँ करैं द्विजगन जय जय बोल॥

बजै सहनाई कहूँ दूर सो सुनाय।
भैरवी की तान लेत चित्त को चुराय॥

उड़त कपोत कहूँ काग करै रोर।
चुहू चुहू चिरैयन कीनो अति सोर॥

बोले तमचोर कहूँ ऊँचौ करि माथ।
अल्ला अकबर करैं मुल्ला साथ साथ॥

बुझी लालटेन लिए झुकि रहे माथ।
पहरू लटकि रहे लंबो किए हाथ॥

स्वान सोए जहाँ तहाँ छिपि रहे चोर।
गऊ पास बच्छन अहीर देत छोर॥

दही फल फूल लिए ऊँचे बोलैं बोल।
आवत ग्रामीन जन चले टोल टोल॥

काज व्यग्र लोग धाए कंधन हिलाय।
कसे कटि चुस्त बने पगड़ी सजाय॥

सोई वृत्ति जागीं सब नरन के चित्त।
बुरी भली सबै करैं लोक जौन नित्त॥

चले मनसूबा लोक थोकन के जौन।
मारपीट दान-धर्म काम-काज भौन॥
व्यास बैठे घाट घाट खोलि कै पुरान।
ब्राह्मन पुकारै लगे हाय हाय दान॥
अरुन किरिन छाई दिसा भई लाल।
घाट नीर चमकन लागे तौन काल॥
दीप जोति उडुगन सह मंद मंद।
मिलत चकई चका करत अनंद॥
प्रलै पीछे सृष्टि सम जगत लखाय।
मानो मोह बीत्यो भयो ज्ञानोदय आय॥
प्रात पौन लागे जाग्यो कवि 'हरीचंद'।
ताकी स्तुति करि कह्यौ यह बंग छंद॥१॥

भइ सखि साँझ फूलि रहि बन द्रुम बेली चलै किन कुंज कुटीर।
हरे तरोवर भए सुनहरे छिरकी मनहुँ अबीर॥
झुकि रहे रंग रंग के बादर मनु सुखए बहु चीर।
जानि बसेरा समय कुलाहल करत कोकिला कीर॥
तन्यो वितान गगन अवनी लौं भयो सुहावन तीर।
जमुना जल झलकत आभा मिलि लहरत रंग भरि नीर॥
धीर समीर बहत अँग सहरत सोभित धीर समीर।
'हरीचंद' इक तुव बिनु फीको सब मानत बलबीर॥२॥

कूकै लगीं कोइलैं कदंबन पै बैठि फेरि
धोए धोए पात हिलि हिलि सरसै लगे।
बोलै लगे दादुर मयूर लगे नाचै फेरि
देखि कै संजोगी जन हिय हरसै लगे।
हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी
लखि 'हरिचंद' फेरि प्रान तरसै लगे।
फेरि झूमि झूमि बरषा की रितु आई फेरि
बादर निगोरे झुकि झुकि बरसै लगे॥३॥

५

हरिश्चन्द्रो माली हरिपदगतानां सुमनसां
सद ऽम्लानां भक्तिप्रकटतरगन्धां च सुगुणां ।
अगुम्फत्स-मालां कुरुत हृदयस्थां रसपदा
यतोऽन्येषां स्वस्य प्रणयसुखदात्रीयमतुला ।।१।।

हरि हरि हरिरिह विहरति कुञ्जे मन्मथ मोहन वनमाली ।
श्री राधाय समेतो शिखिशेखर शोभाशाली ।
गोपीजन विधुवदन वनज-वन मोहन मत्तााली ।
गायति निज दासे हरिचंदे गलजालक माया जाली ।।२।।

तद्वन्दे कनकप्रभं, किमपि जानकी धाम ।
मत्प्रमादतत्सार्थता-मेति राम इति नाम ।।३।।

बेदरदी वे लड़िवे लगी तैंड़ नाल ।
वेपरवाही वारी जी तू मेरा साहवा असी इत्थों बिरह बेहाल ।।
चाहनेवाले दी फिकर न तुझनूं गल्लों दा ज्वाब ना स्वाल ।
'हरीचंद' ततबीर ना सुझदी आशक वैतुलमाल ।।४।।

बेगाँ आवो प्यारा बनवारी म्हारी ओर ।
दीन वचन सुनताँ उठ धावो नेक न करो अवारी ।।
कृपासिंधु छाँड़ो निठराई अपनी बिरद सँभारी ।
थानैं जग दीनदयाल कहै छै क्यों म्हारी सुरत बिसारी ।।
प्राणदान दीजे मोहिं प्यारा हौं छू दासी थारी ।
क्यों नहिं दीन बैण सुणो लालन कौन चूक छे म्हारी ।।
तलफैं प्रान रहैं नहिं तन में बिरह बिथा बढ़ी भारी ।
'हरीचंद' गहि बाँह उबारो तुम तो चतुर बिहारी ।।५।।

प्रानेर बिना कि करि रे आमि कोथाय जाइ ।
आमि कि सहिते पारी, बिरह जंत्रना भारी,
आहा मरि मरि बिष खाइ ।
बिच्छेदे व्याकुल अति, जलही मीन गति,
हरि बिना आमि ना बचाइ ।।६।।

रहे न एक भी बेदादगर सितम बाक़ी।
रुके न हाथ अभी तक हैं दम में दम बाक़ी ॥
उठा दुई का जो परदा हमारी आँखों से,
तो काबे में भी रहा बस वही सनम बाक़ी।
बुला लो बालों प हसरत न दिल में मेरे रहे,
अभी तलक तो है तन में हमारे दम बाक़ी।
लहद प आएँगे और फूल भी उठाएँगे,
ये रंज है कि न उस वक्त होंगे हम बाक़ी।
यह चार दिन के तमाशे हैं आह दुनिया के,
रहा जहाँ में सिकंदर न औ नजम बाक़ी।
तुम आओ तार से मरक़द प हम क़दम चूमें,
फ़क़त यही है तमन्ना तेरी क़सम बाक़ी।
'रसा' ये रंज उठाया फ़िराक़ में तेरे,
रहे जहाँ में न आखिर को आह हम बाक़ी ॥ ७ ॥

६

सब गुरुजन को बुरो बतावै। अपनी खिचड़ी अलग पकावै।
भीतर तत्त्व न झूठी तेजी। क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेजी ॥१॥
तीन बुलाए तेरह आवैं। निज निज बिपता रोइ सुनावैं।
आँखौ फूटे भरा न पेट। क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट ॥२॥
धन लेकर कछु काम न आवै। ऊँची नीची राह दिखावै।
समय पड़े पर साधे गुंगी। क्यों सखि सज्जन नहिं सखि चुंगी ॥३॥
भीतर भीतर सब रस चूसै। हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै ॥
जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेज ॥४॥
नई नई नित तान सुनावै। अपने जाल में जगत फँसावै।
नित नित करै हमैं बलसून। क्यों सखि सज्जन नहिं कानून ॥५॥
इनकी उनकी खिदमत करो। रुपया देते देते मरो।
तब आवै मोहिं करन खराब। क्यों सखि सज्जन नहीं खिताब ॥६॥

७

टूटै सोमनाथ के मंदिर को कोउ लागे ना गोहार।
दौरो दौरो हिंदू हो सब गोरा करें पुकार।

की केहू हिंदू के जनमल नाहीं की जरि भैलैं छार।
की सब आज धरम तजि दिहलैं भैलैं तुरुक इक बार।
केहू लगल गोहार न गौरा रौवैं जार बिजार।
अब जग हिंदू केहू नाहीं झूठे नामै कै ब्यौहार ॥१॥

भारत में एहि समय भई है सब कुछ बिनहिं प्रमान हो दुइरंगी।
आधे पुराने पुरानहिं मानैं आधे भए क्रिस्तान हो दुइरंगी॥
क्या तो गदहा को चना चढ़ावैं कि होइ दयानँद जायँ हो दुइरंगी।
क्या तो पढ़ैं कैथी कोठिवलियै कि होयँ बरिस्टर धाय हो दुइरंगी॥
एहि से भारत नास भया सब जहाँ तहाँ यही हाल हो दुइरंगी।
होउ एक मत भाई सबै अब छोड़हु चाल कुचाल हो दुइरंगी ॥२॥

देखो भारत उपर कैसी छाई कजरी।
मिटि धूर में सफेदी सब आई कजरी।
दुज बेद की रिचन छोड़ि गाई कजरी।
नृपगन लाज छोड़ि मुँह लाई कजरी ॥३॥

गद्य

१

जातीय संगीत

भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े बड़े लेख और काव्य प्रकाश होने हैं, किंतु वे जनसाधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव गाँव, में साधारण लोगों में प्रचार की जायं। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सर्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है। इसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे ऐसे गीतों को संग्रह करूँ और उनको छोटी छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूँ। इस विषय में मैं, जिनको जिनको कुछ भी रचनाशक्ति है, उनसे सहायता चाहता हूँ

कि वे लोग भी इस विषय पर गीत वा छंद बनाकर स्वतंत्र प्रकाश करें या मेरे पास भेज दें, मैं उनको प्रकाश करूँगा और सब लोग अपनी मंडली में गानेवालों को यह पुस्तकें दें। जो लोग धनिक हैं वह नियम करैं कि जो गुणी इन गीतों को गावेगा उसी का वे लोग गाना सुनेंगे। स्त्रियों की भी ऐसे ही गीतों पर रुचि बढ़ाई जाय और उनको ऐसे गीतों के गाने को अभिनंदन किया जाय। ऐसी पुस्तकें या बिना मूल्य वितरण की जायँ या इनका मूल्य अति स्वल्प रक्खा जाय। जिन लोगों को ग्रामीणों से संबंध है वे गाँव में ऐसी पुस्तकें भेज दें। जहाँ कहीं ऐसे गीत सुनैं उसका अभिनंदन करैं। इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे छोटे छंदों में और साधारण भाषा में बनैं, वरंच गवाँरी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली, ठुमरी, खेमटा, कँहरवा, अद्धा, चैती, होली, साँझी, लंबे, लावनी, जाँते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल, इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो, अर्थात् पंजाब में पंजाबी, बुंदेलखंड में बुंदेलखंडी, बिहार में बिहारी, ऐसे जिन देशों में जिन भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें। उत्साही लोग इसमें जो बनाने की शक्ति रखते हैं वे बनावें, जो छपवाने की शक्ति रखते हैं वे छपवा दें और जो प्रचार की शक्ति रखते हैं वे प्रचार करैं। मुझसे जहाँ तक हो सकैगा मैं भी करूंगा। जो गीत मेरे पास आवैंगे उनको मैं यथाशक्ति प्रचार करूँगा। इससे सब लोगों से निवेदन है कि गीतादिक भेजकर मेरी इस विषय में सहायता करैं और यह विषय प्रचार के योग्य है कि नहीं और इसका प्रचार सुलभ रीति से कैसे हो सकता है इस विषय में प्रकाश करके अनुगृहीत करैंगे। मैंने ऐसी पुस्तकों के हेतु नीचे लिखे हुए विषय चुने हैं। इनमें और भी जिन विषयों की आवश्यकता हो लोग लिखैं। ऐसे गीतों में रोचक बातें जो स्त्रियों और गँवारों को अच्छी लगैं होनी चाहिए और शृंगार, हास्य आदि रस इसमें मिले रहैं जिसमें इनका प्रचार सहज में हो जाय।

बाल्य विवाह—इसमें स्त्री का बालक पति होने का दुःख, फिर परस्पर मन न मिलने का वर्णन, उससे अनेक भावी अमंगल और अप्रीतिजनक परिणाम।

जन्मपत्री की विधि—इससे बिना मन मिले स्त्री-पुरुष का विवाह और इसकी अशास्त्रता।

बालकों की शिक्षा—इसकी आवश्यकता, प्रणाली, शिष्टाचार-शिक्षा, व्यवहार-शिक्षा आदि।

बालकों से बर्ताव—इसमें बालकों के योग्य रीति पर बर्ताव न करने में उनका नाश होना।

अँगरेजी फैशन—इससे बिगड़कर बालकों का मद्यादि सेवन और स्वधर्म विस्मरण।

स्वधर्मचिंता—इसकी आवश्यकता।

भ्रूणहत्या और शिशुहत्या—इसके प्रचार के कारण, उसके मिटाने के उपाय।

फूट और बैर—इसके दुर्गुण, इसके कारण भारत की क्या-क्या हानि हुई इसका वर्णन।

मैत्री और ऐक्य—इसके बढ़ने के उपाय, इसके शुभ फल।

बहुजातित्व और बहुभक्तित्व—के दोष, इससे परस्पर चित्त का न मिलना, इसी से एक का दूसरे के सहाय में असमर्थ होना।

योग्यता—अर्थात् केवल वाणी का विस्तार न करके सब कामों के करने की योग्यता पहुँचाना और उदाहरण दिखलाने का विषय।

पूर्व्वज आर्यों की स्तुति—इसमें उनके शौर्य्य, औदार्य्य, सत्य, चातुर्य्य, विद्यादि गुणों का वर्णन।

जन्मभूमि—इससे स्नेह और इसके सुधारने की आवश्यकता का वर्णन।

आलस्य और संतोष—इनकी संसार के विषय में निंदा और इससे हानि।

व्यापार की उन्नति—इसकी आवश्यकता और उपाय।

नशा—इसकी निंदा इत्यादि।

अदालत—इसमें रुपया व्यय करके नाश होना और आपस में न समझने का परिणाम।

हिंदुस्तान की वस्तु हिंदुस्तानियों को व्यवहार करना—इसकी आवश्यकता, इसके गुण, इसके न होने से हानि का वर्णन।

भारतवर्ष के दुर्भाग्य का वर्णन—करुणा रस संवलित।

ऐसे ही और और विषय जिनमें देश की उन्नति की संभावना हो लिए जायँ। यद्यपि यह एक एक विषय एक एक नाटक, उपन्यास वा काव्य आदि के ग्रंथ बनाने के योग्य हैं और इनपर अलग ग्रंथ बनें तो बड़ी ही उत्तम बात है, पर यहाँ तो इन विषयों के छोटे छोटे सरल देशभाषा में गीत और छंदों की आवश्यकता है जो

पृथक पुस्तकाकार मुद्रित होकर साधारण जनों में फैलाए जायँगे। मैं आशा करता हूँ कि इस विषय की समालोचना करके और पत्रों के संपादक महोदयगण मेरी अवश्य सहायता करेंगे और उत्साही जन ऐसी पुस्तकों का प्रचार करेंगे।

२

भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है ?

आज बड़े ही आनंद का दिन है कि इस छोटे से नगर बलिया में हम इतने मनुष्यों को बड़े उत्साह से एक स्थान पर देखते हैं। इस अभागे आलसी देश में जो कुछ हो जाय वही बहुत कुछ है। बनारस ऐसे ऐसे बड़े नगरों में जब कुछ नहीं होता तो यह हम क्यों न कहेंगे कि बलिया में जो कुछ हमने देखा बहुत ही प्रशंसा के योग्य है। इस उत्साह का मूल कारण जो हमने खोजा तो प्रगट हो गया कि इस देश के भाग्य से आजकल यहाँ सारा समाज ही ऐसा एकत्र है। जहाँ राबर्ट साहब बहादुर ऐसे कलेक्टर जहाँ हों वहाँ क्यों न ऐसा समाज हो। जिस देश और काल में ईश्वर ने अकबर को उत्पन्न किया था उसी में अबुलफ़जल, बीरबल, टोडरमल को भी उत्पन्न किया। यहाँ राबर्ट साहब अकबर हैं तो मुंशी चतुर्भुजसहाय, मुंशी बिहारीलाल साहब आदि अबुलफ़जल और टोडरमल हैं। हमारे हिंदुस्तानी लोग तो रेल की गाड़ी हैं। यद्यपि फर्स्ट क्लास, सेकेंड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी-अच्छी और बड़े बड़े महसूल की इस ट्रेन में लगी हैं पर बिना इंजन ये सब नहीं चल सकतीं, वैसेही हिंदुस्तानी लोगों को कोई चलानेवाला हो तो ये क्या नहीं कर सकते। इनसे इतना कह दीजिए "का चुप साधि रहा बलवाना", फिर देखिए हनुमानजी को अपना बल कैसा याद आ जाता है। सो बल कौन याद दिलावै। या हिंदुस्तानी राजेमहाराजे नवाब रईस या हाकिम। राजे-महाराजों को अपनी पूजा भोजन झूठी गप से छुट्टी नहीं। हाकिमों को कुछ तो सर्कारी काम घेरे रहता है, कुछ बॉल, घुड़दौड़, थिएटर, अखबार में समय गया। कुछ समय बचा भी तो उनको क्या गरज है कि हम गरीब गंदे काले आदमियों से मिलकर अपना अनमोल समय खोवैं। बस वही मसल हुई—'तुम्हें गैरों से कब फ़ुरसत हम अपने गम से कब खाली। चलो बस हो चुका मिलना न हम खाली न तुम खाली।' तीन मेंढ़क एक के ऊपर एक बैठे थे। ऊपरवाले ने कहा 'जौक शौक', बीचवाला बोला 'गुम सुम', सब के नीचेवाला पुकारा 'गए हम'। सो हिंदुस्तान की साधारण प्रजा की दशा यही है, गए हम।

पहले भी जब आर्य लोग हिंदुस्तान में आकर बसे थे, राजा और ब्राह्मणों ही के जिम्मे यह काम था कि देश में नाना प्रकार की विद्या और नीति फैलावें और अब भी ये लोग चाहें तो हिंदुस्तान प्रतिदिन कौन कहे प्रतिछिन बढ़े। पर इन्हीं लोगों को सारे संसार के निकम्मेपन ने घेर रक्खा है। "बोद्धारो मत्सरग्रस्ता प्रभवः स्मरदूषिताः।" हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जब इनके पुरुषों के पास कोई भी सामान नहीं था तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नलियों से जो तारा ग्रह आदि वेध करके उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपए के लागत की विलायत में जो दूरबीनें बनी हैं उनसे उन ग्रहों को वेध करने में भी वही गति ठीक आती है, और जब आज इस काल में हम लोगों को अंगरेजी विद्या की और जगत् की उन्नति की कृपा से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं तब हम लोग निरी चुंगी की कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन, अंगरेज फरासीस आदि तुरकी ताजी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमीं पहले छू लें। उस समय हिंदू काठियावाड़ी खाली खड़े खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको, औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देखकर भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायगा फिर कोटि उपाय किए भी आगे न बढ़ सकैगा। इस लूट में, इस बरसात में भी जिसके सिर पर कमबख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहे उनपर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

मुझको मेरे मित्रों ने कहा था कि तुम इस विषय पर आज कुछ कहो कि हिंदुस्तान की कैसे उन्नति हो सकती है। भला इस विषय पर मैं और क्या कहूँ। भागवत में एक श्लोक है "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारं। मयाऽनुकूलेन नभः स्वतेरितुं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।" भगवान कहते हैं कि पहले तो मनुष्य जनम ही बड़ा दुर्लभ है, सो मिला और उसपर गुरु की कृपा और मेरी अनुकूलता। इतना सामान पाकर भी जो मनुष्य इस संसार-सागर के पार न जाय उसको आत्म हत्यारा कहना चाहिए। वही दशा इस समय हिंदुस्तान की है। अंगरेजों के राज्य में सब प्रकार का सामान पाकर अवसर पाकर भी हम लोग जो इस समय पर उन्नति न करें तो हमारा केवल अभाग्य और परमेश्वर का कोप ही है। सास के अनुमोदन से एकांत रात में सूने रंगमहल में जाकर भी बहुत दिन से जिस प्रान से प्यारे परदेसी पति से मिलकर छाती ठंढी करने की इच्छा थी,

उसका लाज से मुँह भी न देखै और बोलै भी न, तो उसका अभाग्य ही है। वह तो कल फिर परदेस चला जायगा। वैसे ही अंगरेजों के राज्य में भी जो हम कूए के मेंढ़क, काठ के उल्लू, पिंजड़े के गंगाराम ही रहैं तो हमारी कमबख्त कमबख्ती फिर कमबख्ती है।

बहुत लोग यह कहैंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करैं? तुम्हारा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनका बहुत भूल है। इंगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के काँटों को साफ किया। क्या इंगलैंड में किसान, खेतवाले, गाड़ीवान, मजदूर, कोचवान आदि नहीं हैं? किसी देश में भी सभी पेट भरे हुए नहीं होते। किंतु वे लोग जहाँ खेत जोतते बोते हैं वहीं उसके साथ यह भी सोचते हैं कि ऐसी और कौन नई कल या मसाला बनावैं जिसमें इस खेती में आगे से दूना अन्न उपजै। विलायत में गाड़ी के कोचवान भी अखबार पढ़ते हैं। जब मालिक उतरकर किसी दोस्त के यहाँ गया उसी समय कोचवान ने गद्दी के नीचे से अखबार निकाला। यहाँ उतनी देर कोचवान हुक्का पीएगा या गप्प करेगा। सो गप्प भी निकम्मी। वहाँ के लोग गप्प ही में देश के प्रबंध छाँटते हैं। सिद्धांत यह कि वहाँ के लोगों का यह सिद्धांत है कि एक छिन भी व्यर्थ न जाय। उसके बदले यहाँ के लोगों को जितना निकम्मापन हो उतना ही वह बड़ा अमीर समझा जाता है। आलस यहाँ इतनी बढ़ गई कि मलूकदास ने दोहा ही बना डाला "अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम।" चारो ओर आँख उठाकर देखिए तो बिना काम करनेवालों की ही चारो ओर बढ़ती है। रोजगार कहीं कुछ भी नहीं है। अमीरों की मुसाहबी, दल्लाली या अमीरों के नौजवान लड़कों को खराब करना या किसी की जमा मार लेना, इनके सिवा बतलाइए और कौन रोजगार है जिससे कुछ रुपया मिलै। चारो ओर दरिद्रता की आग लगी हुई है। किसी ने बहुत ठीक कहा है कि दरिद्र कुटुंबी इस तरह अपनी इज्जत को बचाता फिरता है जैसे लाजवती कुल की बहू फटे कपड़ों में अपने अंग को छिपाए जाती है। वही दशा हिंदुस्तान की है।

मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट देखने से स्पष्ट होता है कि मनुष्य दिन दिन यहाँ बढ़ते जाते हैं और रुपया दिन दिन कमती होता जाता है। तो अब बिना ऐसा उपाय किए काम नहीं चलैगा कि रुपया भी बढ़ै, और वह रुपया बिना बुद्धि बढ़े न

बढ़ैगा। भाइयो, राजा महाराजों का मुँह मत देखो, मत यह आशा रक्खो कि पंडितजी कथा में कोई ऐसा उपाय भी बतलावैंगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढ़े। तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो। कबतक अपने को जंगली हूस मूर्ख बोदे डरपोकने पुकरवाओगे। दौड़ो इस घोड़दौड़ में जो पीछे पड़े तो फिर कहीं ठिकाना नहीं है। "फिर कब राम जनकपुर ऐहैं"। अबकी जो पीछे पड़े तो फिर रसातल ही पहुँचोगे। जब पृथ्वीराज को कैद करके गोरे ले गए तो शहाबुद्दीन के भाई गियासुद्दीन से किसी ने कहा कि वह शब्दभेदी बाण बहुत अच्छा मारता है। एक दिन सभा नियत हुई और सात लोहे के तावे बाण से फोड़ने को रखे गए। पृथ्वीराज को लोगों ने पहले ही से अंधा कर दिया था। संकेत यह हुआ कि जब गियासुद्दीन हूँ करे तब वह तावों पर बाण मारे। चंद कवि भी उसके साथ कैदी था। यह सामान देखकर उसने यह दोहा पढ़ा। "अबकी चढ़ी कमान, को जानै फिर कब चढ़ै। जिनि चुक्कै चौहान, इक्कै मारय इक्क सर॥" उसका संकेत समझकर जब गियासुद्दीन ने हूँ किया तो पृथ्वीराज ने उसी को बाण मार दिया। वही बात अब है। अबकी चढ़ी, इस समय में सर्कार का राज्य पाकर और उन्नति का इतना सामान पाकर भी तुम लोग अपने को न सुधारो तो तुम्हीं रहो। और वह सुधारना भी ऐसा होना चाहिए कि सब बात में उन्नति हो। धर्म में, घर के काम में, बाहर के काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल चलन में, शरीर के बल में, मन के बल में, समाज में, बालक में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारतवर्ष की सब अवस्था, सब जाति सब देश में उन्नति करो। सब ऐसी बातों को छोड़ो जो तुम्हारे इस पथ के कंटक हों, चाहे तुम्हें लोग निकम्मा कहैं या नंगा कहैं, कृस्तान कहैं या भ्रष्ट कहैं। तुम केवल अपने देश की दीनदशा को देखो और उनकी बात मत सुनो।

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः।
स्वकार्य्यं साधयेत् धीमान् कार्य्यध्वंसो हि मूर्खता॥

जो लोग अपने को देशहितैषी लगाते हो वह अपने सुख को होम करके, अपने धन और मान का बलिदान करके कमर कस के उठो। देखादेखी थोड़े दिन में सब हो जायगा। अपनी खराबियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देश की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को वहाँ वहाँ से पकड़ पकड़ कर लाओ। उनको बाँध बाँध कर कैद करो। हम इससे बढ़कर क्या कहैं कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने

आवै तो जिस क्रोध से उसको पकड़कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी उसका सत्यानाश करोगे। उसी तरह इस समय जो जो बातें तुम्हारे उन्नति पथ में काँटा हों उनकी जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जायँगे, दरिद्र न हो जायँगे, कैद न होंगे वरंच जान से न मारे जायँगे तब तक कोई देश भी न सुधरैगा।

अब यह प्रश्न होगा कि भाई हम तो जानते ही नहीं कि उन्नति और सुधारना किस चिड़िया का नाम है। किसको अच्छा समझैं? क्या लें, क्या छोड़ें? तो कुछ बातें जो इस शीघ्रता में मेरे ध्यान में आती हैं उनको मैं कहता हूँ, सुनो—

सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबके पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है। देखो, अँगरेजों की धर्मनीति और राजनीति परस्पर मिली हैं, इससे उनकी दिन दिन कैसी उन्नति है। उनको जाने दो, अपने ही यहाँ देखो! तुम्हारे यहाँ धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति, समाज-गठन, वैद्यक आदि भरे हुए हैं। दो एक मिसाल सुनो। यही तुम्हारा बलिया का मेला और यहाँ स्नान क्यों बनाया गया है? जिसमें जो लोग कभी आपस में नहीं मिलते, दस दस पाँच पाँच कोस से वे लोग साल में एक जगह एकत्र होकर आपस में मिलें। एक दूसरे का दुःख सुख जानें। गृहस्थी के काम की वह चीजें जो गाँव में नहीं मिलतीं, यहाँ से ले जायँ। एकादशी का व्रत क्यों रखा है? जिसमें महीने में दो एक उपवास से शरीर शुद्ध हो जाय। गंगाजी नहाने जाते हो तो पहिले पानी सिर पर चढ़ा कर तब पैर डालने का विधान क्यों है? जिसमें तलुए से गरमी सिर में चढ़कर विकार न उत्पन्न करे। दीवाली इसी हेतु है कि इसी बहाने साल भर में एक बेर तो सफाई हो जाय। होली इसी हेतु है कि बसंत की बिगड़ी हवा स्थान-स्थान पर अग्नि बलने से स्वच्छ हो जाय। यही तिहवार ही तुम्हारी मानो म्युनिसिपालिटी हैं। ऐसे ही सब पर्व सब तीर्थ व्रत आदि में कोई हिकमत है। उन लोगों ने धर्मनीति और समाजनीति को दूध पानी की भाँति मिला दिया है। खराबी जो बीच में भई है वह यह है कि उन लोगों ने ये धर्म क्यों मानने लिखे थे, इसका लोगों ने मतलब नहीं समझा और इन बातों को वास्तविक धर्म मान लिया। भाइयो, वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरणकमल का भजन है। ये सब तो समाजधर्म हैं जो देशकाल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं। दूसरी खराबी यह हुई कि उन्हीं महात्मा बुद्धिमान ऋषियों के वंश के लोगों ने

अपने बाप दादों का मतलब न समझकर बहुत से नए नए धर्म बनाकर शास्त्रों में धर दिए। बस सभी तिथि व्रत और सभी स्थान तीर्थ हो गए। सो इन बातों को अब एक बेर आँख खोलकर देख और समझ लीजिए कि फलानी बात उन बुद्धिमान ऋषियों ने क्यों बनाई और उनमें देश और काल के जो अनुकूल और उपकारी हों उनको ग्रहण कीजिए। बहुत सी बातें जो समाज-विरुद्ध मानी हैं किंतु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए। जैसे जहाज का सफर, विधवा विवाह आदि। लड़कों को छोटेपन ही में ब्याह करके उनका बल, वीर्य, आयुष्य सब मत घटाइए। आप उनके माँ बाप हैं या उनके शत्रु हैं। वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिए, विद्या कुछ पढ़ लेने दीजिए, नोन, तेल, लकड़ी की फिक्र करने की बुद्धि सीख लेने दीजिए तब उनका पैर काठ में डालिए। कुलीन प्रथा, बहुविवाह आदि को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइए, किंतु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती हैं जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुलधर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें। वैष्णव शाक्त इत्यादि नाना प्रकार के मत के लोग आपस का वैर छोड़ दें। यह समय इन झगड़ों का नहीं। हिंदू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए। जाति में कोई चाहे ऊँचा हो चाहे नीचा हो सबका आदर कीजिए, जो जिस योग्य हो उसको वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों को तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए।

मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिंदुस्तान में बसकर वे लोग हिंदुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक भाइयों की भाँति हिंदुओं से बरताव करें। ऐसी बात, जो हिंदुओं का जी दुखानेवाली हो, न करें। घर में आग लगै तब जिठानी-दौरानी को आपस का डाह छोड़कर एक साथ वह आग बुझानी चाहिए। जो बात हिंदुओं को नहीं मयस्सर हैं वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त हैं। उनमें जाति नहीं, खाने पीने में चौका चूल्हा नहीं, विलायत जाने में रोक टोक नहीं। फिर भी बड़े ही सोच की बात है, मुसलमानों ने अभी तक अपनी दशा कुछ नहीं सुधारी। अभी तक बहुतों को यही ज्ञान है कि दिल्ली लखनऊ की बादशाहत कायम है। यारो! वे दिन गए। अब आलस, हठधर्मी यह सब छोड़ो। चलो, हिंदुओं के साथ तुम भी दौड़ो, एक एक दो होंगे। पुरानी बातें दूर करो। मीरहसन की मसनवी और इंदरसभा पढ़ाकर छोटेपन ही से

लड़कों को सत्यानाश मत करो। होश सम्हाला नहीं कि पट्टी पार लो, चुस्त कपड़ा पहना और गजल गुनगुनाए। "शौक तिफ्ली से मुझे गुल की जो दीदार का था। न किया हमने गुलिस्ताँ का सबक याद कभी"। भला सोचो कि इस हालत में बड़े होने पर वे लड़के क्यों न बिगड़ेंगे। अपने लड़कों को ऐसी किताबें छूने भी मत दो। अच्छी से अच्छी उनको तालीम दो। पिनशिन और वजीफा या नौकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखलाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मिहनत करने की आदत दिलाओ। सौ सौ महलों के लाड़ प्यार दुनिया से बेखबर रहने की राह मत दिखलाओ।

भाई हिंदुओ! तुम भी मतमतांतर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिंदुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो, वह हिंदू। हिंदू की सहायता करो। बंगाली, मरट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिसमें तुम्हारे यहाँ बढ़े, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे वह करो। देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली हैं, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंगलैंड, फरासीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दीआसलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमेरिका की बनी है। जिस लंकिलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंगलैंड का है। फरासीस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी की बनी चरबी की बत्ती तुम्हारे सामने बल रही है। यह तो वही मसल हुई कि एक बेफिकरे मँगनी का कपड़ा पहिनकर किसी महफिल में गए। कपड़े को पहिचान कर एक ने कहा, 'अजी यह अंगा तो फलाने का है।' दूसरा बोला, 'अजी टोपी भी फलाने की है।' तो उन्होंने हँसकर जवाब दिया कि, 'घर की तो मूछैं ही मूछैं हैं।' हाय अफसोस, तुम ऐसे हो गए कि अपने निज के काम की वस्तु भी नहीं बना सकते। भाइयो, अब तो नींद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।

(बलिया का व्याख्यान)

३

वैद्यनाथ की यात्रा

श्री मन्महाराज काशीनरेश के साथ वैद्यनाथ की यात्रा को चले। दो बजे दिन के पैसेंजर ट्रेन में सवार हुए। चारों ओर हरी हरी घास का फर्श, ऊपर रंग-रंग के बादल, गड़हों में पानी भरा हुआ, सब कुछ सुंदर। मार्ग में श्री महाराज के मुख से अनेक प्रकार के अमृतमय उपदेश सुनते हुए चले जाते थे। साँझ को बक्सर पहुँचे। बक्सर के आगे बड़ा भारी मैदान, पर सब्ज काशानी मखमल से मढ़ा हुआ। साँझ होने से बादल छोटे छोटे लाल पीले नीले बड़े ही सुहाने मालूम पड़ते थे। बनारस कालिज की रंगीन शीशे की खिड़कियों का सा सामान था। क्रम से अंधकार होने लगा, ठंढी ठंढी हवा से निद्रा देवी अलग नेत्रों से लिपटी जाती थी। मैं महाराज के पास से उठकर सोने के वास्ते दूसरी गाड़ी में चला गया। झपकी का आना था कि बोछारों ने छेड़छाड़ करनी शुरू की, पटने पहुँचते पहुँचते तो घेर घारकर चारों ओर से पानी बरसने ही लगा। बस पृथ्वी आकाश सब नीरब्रह्ममय हो गया। इस धूमधाम में भी रेल कृष्णाभिसारिका सी अपनी धुन में चली ही जाती थी। सच है सावन की नदी और दृढ़प्रतिज्ञ उद्योगी और जिनके मन प्रीतम के पास हैं वे कहीं रुकते हैं? राह में बाज पेड़ों में इतने जुगुनू लिपटे हुए थे कि पेड़ सचमुच 'सर्व चिरागाँ' बन रहे थे। जहाँ रेल ठहरती थी, स्टेशन मास्टर और सिपाही बिचारे टुटरू टूँ छाता, लालटेन लिए रोजी जगाते भीगते हुए इधर उधर फिरते दिखलाई पड़ते थे। गार्ड अलग 'मैकिंटाश का कवच पहिने' अप्रतिहत गति से घूमते थे। आगे चलकर एक बड़ा भारी विघ्न हुआ, खास जिस गाड़ी पर श्रीमहाराज सवार थे, उसके धुरे घिसने से गर्म होकर शिथिल हो गए। वह गाड़ी छोड़ देनी पड़ी। जैसे धूमधाम की अँधेरी, वैसे ही जोर शोर का पानी। इधर तो यह आफत, उधर फरऊन क्या फरऊन के भी बाबाजान रेलवालों की जल्दी, गाड़ी कभी आगे हटे कभी पीछे। खैर, किसी तरह सब ठीक हुआ। इसपर भी बहुत सा असबाब और कुछ लोग पीछे छूट गए। अब आगे बढ़ते बढ़ते तो सबेरा ही होने लगा। निद्रा बधू का संयोग भाग्य में न लिखा था, न हुआ। एक तो सेकेंड क्लास की एक ही गाड़ी, उसमें भी लेडीज कंपार्टमेंट निकल गया, बाकी जो कुछ बचा उसमें बारह आदमी। गाड़ी भी ऐसी टूटी फूटी, जैसी हिंदुओं की किस्मत और हिम्मत। इस कम्बख्त गाड़ी से और तीसरे दर्जे की गाड़ी से कोई फर्क नहीं, सिर्फ एक एक धोके की टट्टी का शीशा खिड़कियों में लगा था। न चौड़े बेंच

न गद्दा, न बाथरूम। जो लोग मामूली से तिगुना रुपया दें उनको ऐसी मनहूस गाड़ी पर बिठलाना, जिसमें कोई बात भी आराम की न हो, रेलवे कंपनी की सिर्फ बेइन्साफी ही नहीं वरन् धोखा देना है। क्यों नहीं, ऐसी गाड़ियों को आग लगाकर जला देती या कलकत्ते में नीलाम कर देती। अगर मारे मोह के न छोड़ी जाय तो उससे तीसरे दर्जे का काम ले। नाहक अपने गाहकों को बेवकूफ बनाने से क्या हासिल। लेडीज कंपार्टमेंट खाली था, मैंने गार्ड से कितना कहा कि इसमें सोने दो, न माना। और दानापुर से दो चार नीम अंगरेज (लेडी नहीं सिर्फ लैड) मिले उनको बेतकल्लुफ उसमें बैठा दिया। फर्स्ट क्लास की सिर्फ दो गाड़ी—एक में महाराज, दूसरी में आधी लेडीज, आधी में अंगरेज। अब कहाँ सोवैं कि नींद आवै। सचमुच अब तो तपस्या करके गोरी गोरी कोख से जन्म लें तब संसार में सुख मिले। मैं तो ज्यों ही फर्स्ट क्लास में अंगरेज कम हुए कि सोने की लालच से उसमें घुसा। हाथ फैलाना था कि गाड़ी टूटनेवाला विघ्न हुआ। महाराज के इस गाड़ी में आने से मैं फिर वहीं का वहीं। खैर, इसी सात पाँच में रात कट गई। बादल के परदों को फाड़ फाड़कर ऊषा देवी ने ताकझाँक आरंभ कर दी। परलोकगत सज्जनों की कीर्ति की भाँति सूर्य नारायण का प्रकाश पिशुन मेघों के वागाडंबर से घिरा हुआ दिखलाई पड़ने लगा। प्रकृति का नाम काली से सरस्वती हुआ, ठंढी-ठंढी हवा मन की कली खिलाती हुई बहने लगी। दूर से धानी और काही रंग के पर्वतों पर सुनहरापन आ चला। कहीं आधे पर्वत बादलों से घिरे हुए, कहीं एक साथ वाष्प निकलने से उनकी चोटियाँ छिपी हुईं, और कहीं चारों ओर से उनपर जलधारा-पात से बुक्के की होली खेलते हुए बड़े ही सुहाने मालूम पड़ते थे। पास से देखने से भी पहाड़ बहुत ही भले दिखलाई पड़ते थे। काले पत्थरों पर हरी हरी घास और जहाँ तहाँ छोटे बड़े पेड़, बीच बीच में मोटे पतले झरने; नदियों की लकीरें, कहीं चारों ओर से सघन हरियाली, कहीं चट्टानों पर ऊँचे नीचे अनगढ़ ढोके, और कहीं जलपूर्ण हरित तराई विचित्र शोभा देती थी। अच्छी तरह प्रकाश होते होते तो वैद्यनाथ के स्टेशन पर पहुँच गए। स्टेशन से वैद्यनाथ जी कोई तीन कोस हैं। बीच में एक नदी उतरनी पड़ती है जो आजकल बरसात में कभी घटती और कभी बढ़ती है। रास्ता पहाड़ के ऊपर ही ऊपर बरसात से बहुत सुहाना हो रहा है। पालकी पर हिलते हिलते चले। श्रीमहाराज के सोचने के अनुसार कहारों की गतिध्वनि में भी परमेश्वर ही की चर्चा है। पहले 'कोहं कोहं' की ध्वनि सुनाई पड़ती है फिर 'सोहं सोहं' 'हंसस्सोहं' की एकाकार पुकार मार्ग में भी उनसे तन्मय किए देती थी।

मुसाफिरों को अनुभव होगा कि रेल पर सोने से नाक थर्राती है और वही दशा कभी कभी और सवारियों पर होती है इसी से मुझे पालकी पर भी नींद नहीं आई और जैसे तैसे वैजनाथ जी पहुँच ही गए।

वैजनाथ जी एक गाँव है, जो अच्छी तरह आबाद है। मजिस्ट्रेट, मुनसिफ वगैरह हाकिम और जरूरी सब आफिस हैं। नीचा और तर होने से देश बातुल गंदा और 'गंधद्वारा' है। लोग काले काले और हतोत्साह मूर्ख और गरीब हैं। यहाँ सौंथाल एक जंगली जाति होती है। ये लोग अब तक निरे वहशी हैं। खाने पीने की जरूरी चीजें यहाँ मिल जाती हैं। सर्प विशेष हैं। राम जी की घोड़ी जिनको कुछ लोग ग्वालिन भी कहते हैं एक बालिश्त लंबी और दो दो उंगल मोटी देखनेमें आईं।

मंदिर वैद्यनाथ जी का टोप की तरह बहुत ऊँचा शिखरदार है। चारों ओर और देवताओं के मंदिर और बीच में फर्श है। मंदिर भीतर से अंधेरा है क्योंकि सिर्फ एक दरवाजा है। वैजनाथ जी की पिंडी जलधरी से तीन चार उंगल ऊँची बीच में से चिपटी है। कहते हैं कि रावण ने मूका मारा है इससे यह गड़हा पड़ गया है। वैद्यनाथ वैजनाथ और रावणेश्वर यह तीन नाम महादेव जी के हैं। यह सिद्धपीठ और ज्योतिर्लिंग स्थान है। हरिद्रा पीठ इसका नाम है और सती का हृदयदेश यहाँ गिरा है। जो पार्वती अरोगा और दुर्गा नाम की सामने एक देवी हैं वही यहाँ की मुख्य शक्ति हैं। इनके मंदिर और महादेव जी के मंदिर से गाँठ जोड़ी रहती है। रात को महादेव जी के ऊपर बेलपत्र का बहुत लंबा चौड़ा एक ढेर करके ऊपर से कमख्वाब या ताश का खोल चढ़ाकर शृंगार करते हैं या बेलपत्र के ऊपर से बहुत सी माला पहना देते हैं। सिर के गड़हे में भी रात को चंदन भर देते हैं।

वैद्यनाथ की कथा यह है कि एक बेर पार्वती जी ने मान किया था, और रावण के शोर करने से वह मान छूट गया, इसपर महादेव जी ने प्रसन्न होकर वर दिया कि हम लंका चलेंगे और लिंग रूप से उसके साथ चले। राह में जब वैजनाथ जी पहुँचे तब ब्राह्मण-रूपी विष्णु के हाथ में वह लिंग देकर पेशाब करने लगा। कई घड़ी तक माया-मोहित होकर वह मूतता ही रह गया और घबड़ाकर विष्णु ने उस लिंग को वहीं रख दिया। रावण से महादेव जी से यह करार था कि जहाँ रख दोगे वहाँ से आगे न चलेंगे इससे महादेव जी वहीं रह गए, वरंच इसी पर खफा होकर रावण ने उनको मूका भी मार दिया।

वैद्यनाथ जी का मंदिर राजा पूरणमल्ल का बनाया हुआ है। लोग कहते हैं कि रघुनाथ ओझा नामक एक तपस्वी इसी बन में रहते थे। उनको स्वप्न हुआ कि हमारी एक छोटी सी मढ़ी झाड़ियों में छिपी है तुम उसका एक बड़ा मंदिर बनाओ। उसी स्वप्न के अनुसार किसी वृक्ष के नीचे उनको तीन लाख रुपया मिला। उन्होंने राजा पूरणमल्ल को वह रुपया दिया कि वे अपने प्रबंध में मंदिर बनवा दें। वे बादशाह के काम से कहीं चले गए और कई बरस तक न लौटे, तब रघुनाथ ओझा ने दुखित होकर अपने व्यय से मंदिर बनवाया। जब पूरणमल्ल लौटकर आए और मंदिर बना देखा तो सभामंडप बनवाकर मंदिर के द्वार पर अपनी प्रशस्ति लिखकर चले गए। यह देखकर रघुनाथ ओझा ने दुखित होकर कि रुपया भी गया और कीर्ति भी गई, एक नई प्रशस्ति बनाई और बाहर के दरवाजे पर खुदवा कर लगा दी। वैद्यनाथ माहात्म्य भी मालूम होता है कि इन्हीं महात्मा का बनाया हुआ है क्योंकि उसमें छिपाकर रघुनाथ ओझा को श्रीरामचंद्र जी का अवतार लिखा है। प्रशस्ति का काव्य भी उत्तम नहीं है, जिससे बोध होता है कि ओझा जी श्रद्धालु थे किंतु उद्धत पंडित नहीं थे। गिद्धौर के महाराज सर जयमंगल-सिंह के० सी० यस० आई० कहते हैं कि पूरणमल्ल उनके पुरखा थे। एक विचित्र बात यहाँ और भी लिखने के योग्य है। गोवर्धन पर श्रीनाथ जी का मंदिर सं० १५५६ में एक राजा पूरणमल्ल ने बनाया और यहाँ संवत् १६५२ सन १५६५ ई० में एक पूरणमल्ल ने वैद्यनाथ जी का मंदिर बनाया। क्या यह मंदिरों का काम पूरणमल्ल ही को परमेश्वर ने सौंपा है ?

निज मंदिर का लेख

अचल शशिशायके लसित भूमि शाकाब्दके। वलनि रघुनाथके वहल पूजक श्रद्धया ॥
विमल गुण चेतसा नृपति पूरणेनाचितं। त्रिपुरहरमंदिरं व्यरचि सर्वकामप्रदम् ॥

नृपनिकृत पद्यमिदम्।

सभामंडप का लेख

चंद्र बिंब प्रतीकाशं प्रासादं चातिशोभनम्। हरिद्रा पीठके कर्तुं काम्येस्मिन्नभवन्मुनिः ॥१॥
न चेदं मानुषं कर्म चोलराज महामते। भविष्यति न संदेहः कदाचिच्च कलौ युगे ॥२॥
मुनेः कल्याणमिश्रस्य पार्थस्य च महात्मनः। संवादं शृणु राजेंद्र चेतिहासं पुरातनम् ॥३॥
यदा कदाचिच्च कलौ रामांशेन द्विजन्मना। कारयेत् वै मठवरो रावणेश्वर कानने ॥४॥

स्वयं दाता समागत्य प्रोद्दिश्य मठकूवरम्। स करिष्यति यत्नेन प्रच्छन्नो नरविग्रहः ॥५॥
आर्जवं शतसाहस्रमस्मिन् लिंगे प्रतिष्ठितम्। त्र्यंगुलं हि तल्लिंगं वेदिकोपरिचोत्थितम् ॥६॥
अधोर्द्ध शिखराकारं योजनार्द्धं च विस्तृतम्। लक्ष लिंगोद्भवं पुण्यं पूजनात्तस्य जायते ॥७॥
छद्मना पद्मनाभेन वंचितस्तु दशाननात्। रक्षणाय च देवानां दैत्यानां वै वधाय च ॥८॥
कैलाशशिखरे देवी यदा मानवती सती। तस्मिन् काले दशग्रीवद्वाररथोनं निवारयत् ॥९॥
दोर्भिजग्राह शैलेंद्रं सिंहनादं चकार सः। तेन संत्रासिता देवी मानं तत्याज भामिनी ॥१०॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे जहास परमेश्वरः। व्रीडामवाप महतीं दशग्रीवं चुकोप सा ॥११॥
शश्वत् प्रीतिमना भूत्वा दैत्यराजाय वै पुरा। एवं वरं ददौ शंभुर्लङ्कागमनकारणम् ॥१२॥
तिस्रः कोट्योर्द्ध कोटिश्च देवाः संत्रासमाययुः। स्मरन्ति देवीं संस्तूय कालरात्रिस्वरूपिणीम् ॥१३॥
कामरूपं परित्यज्य सा संध्या तमुपागता। हरिद्रापीठमासाद्य वासंश्चक्रे दशाननः ॥१४॥
एतस्मिन्नंतरे राजन् द्विजरूपधरो हरिः। हस्ते कृत्वा तु तल्लिंगं क्षणमात्रं स्थितस्तदा ॥१५॥
प्रस्रावं कर्तुमारेभे यावद्दंडं दशाननः। तावत्स विप्रस्त्वरितो लिंगं तत्याज भूतले ॥१६॥
करतिमिरकर्पचैकवारं द्विवारं तृतयमपि गृहीत्वा कुंठिता तत्र शक्तिः।
करकलित शिरोग्रं जीवताते तुरीयं दशवदन भुजानां जातु मन्युर्बभूव ॥१७॥
मुषित इव तटस्थः सोर्थसिद्धेर्निरस्तः स्मरजिदशनिखंडं समपातालविद्धः।
त्रिदिश - युवतिभाले दत्तमंदारमालो दशवदनविदारीप्रादुरासीदयोध्याम् ॥१८॥
गते किमपि काले तु रावणं भक्षितुं नृप। निमित्तं राममासाद्य जहास परमेश्वरी ॥१९॥
नातः परतरं स्थानं गुह्यमुक्तं तु शंभुना। चतुरस्रं क्रोशमिदं चतुः किष्कुसमुच्छ्रितम् ॥२०॥
यदा यदा भवेद् ग्लानिः स्थानेस्मिन् मनुजाधिप। तदा तदावतरते रामः कमललोचनः ॥२१॥
यस्यैषा मानिनी देवी मातेव हितकारिणी। स एव रामो विज्ञेयो मठं कारयिता च तो ॥२२॥
श्रीवैद्यनाथ चरणाब्ज मधुव्रतेन विप्रावतं स रघुनाथ गुणार्णवेन।
प्राप्य प्रसादमजसीसमिदं विधायि प्रासाद सेतु वनवारि मठादि सर्वम् ॥२३॥

मंदिर के चारों ओर और देवताओं के मंदिर हैं। कहीं प्राचीन जैन मूर्तियाँ हिंदू मूर्ति बनकर पुजती हैं। एक पद्मावती देवी की मूर्ति बड़ी सुंदर है जो सूर्यनारायण के नाम से पुजती है। यह मूर्ति पद्म पर बैठी है और दो बड़ी सुंदर कमल की लता दोनों ओर बनी हैं। इसपर अत्यंत प्राचीन पाली अक्षर में कुछ लिखा है जो मैंने श्री बाबू राजेंद्रलाल के पास पढ़ने को भेजा है। दो भैरव की मूर्ति, जिसमें एक तो किसी जैन सिद्ध की और एक जैन क्षेत्रपाल की है, बड़ी ही सुंदर हैं। लोग कहते हैं कि भागलपुर जिले में किसी तालाब में से निकली थी।

सरयूपार की यात्रा*

बस्ती

परसों पहिली एप्रिल थी इससे सफर करके रेती में बेवकूफ बनने का और तकलीफ में सफर करने का हाल लिख चुके हैं० अब आज सुबह आठ बजे रें रें करके बस्ती पहुँचे० वाह रे बस्ती० झख मारने को बसती है अगर बसती इसीको कहते हैं तो उजाड़ किसको कहेंगे० सारी बस्ती में कोई भी पंडित बस्तीराम जी ऐसा पंडित नहीं० खैर अब तो एक दिन यहीं बसती होगी० राह में मेला खूब था० जगह जगह पर शहाबे का शहाबा० चूल्हे जल रहे हैं० सैकड़ों अहरे लगे हुए हैं० कोई गाता है, कोई बजाता है, कोई गप हाँकता है० रामलीला के मेले में अवध प्रांत के लोगों का स्वभाव रेल, अयोध्या और इधर राह में मिलने से खूब मालूम हुआ० बैसवारे के पुरुष अभिमानी, रूखे और रसिकमन्य होते हैं० रसिकमन्य ही नहीं बीरमन्य भी० पुरुष सब परुष और सभी भीम, सभी अर्जुन, सभी सूत पौराणिक और सभी वाजिदअली शाह० मोटी मोटी बातों को बड़े आग्रह से कहते सुनते हैं० नई सभ्यता अब तक इधर नहीं आई है० रूप कुछ ऐसा नहीं पर स्त्रियाँ नेत्र नचाने में बड़ी चतुर० यहाँ के पुरुषों की रसिकता मोटी चाल सुरती और खड़ी मोंछ में छिपी है और स्त्रियों की रसिकता मैले वस्त्र और सूप ऐसी नथ में० अयोध्या में प्रायः सभी ग्रामीण स्त्रियों के गोल आते हुए मिले० उनका गाना भी मोटी रसिकता का० मुझे तो उनकी सब गीतों में "बोलो प्यारी सखियां सीताराम राम राम" यही अच्छा मालूम हुआ० राह में मेला जहाँ पड़ा मिलता था वहाँ बारात का आनंद दिखलाई पड़ता था० खैर मैं डाक पर बैठा बैठा सोचता था कि काशी में रहते तो बहुत दिन हुए परंतु शिव आज ही हुए क्योंकि वृषभवाहन हुए० फिर अयोध्या याद आई कि हा ! यह वही अयोध्या है जो भारतवर्ष में सबसे पहले राजधानी बनाई गई। इसीमें महात्मा इक्ष्वाकु, मांधाता, हरिश्चंद्र, दिलीप, अज, रघु, श्री रामचंद्र हुए हैं और इसीके राजवंश के चरित्र में बड़े बड़े कवियों ने अपनी बुद्धिशक्ति की परिचालना की है० संसार में इसी अयोध्या का प्रताप किसी दिन व्याप्त था और सारे संसार के राजा लोग इसी अयोध्या की कृपाण से किसी दिन दबते थे वही अयोध्या अब देखी नहीं जाती० जहाँ देखिए मुसलमानों

---

* इस यात्राविवरण में शून्य का प्रयोग विराम के रूप में हुआ है। (हरिश्चंद्रचंद्रिका, फरवरी १८७६)। —संपादक

की कब्रें दिखाई पड़ती हैं० और कभी डाँक पर बैठे रेल का दुःख याद आ जाता कि रेलवे कंपनी ने क्यों ऐसा प्रबंध किया है कि पानी तक न मिले० एक स्टेशन पर एक औरत पानी का डोल लिए आई भी तो गुपला गुपला पुकारती रह गई, जब हमलोगों ने पानी माँगा तो लगी कहने कि 'रहः हो पानियैं पानी पड़ल हौ' फिर कुछ जियादा जिद में लोगों ने माँगा तो बोली 'अब हम गारी देब'० वाह ! क्या इंतजाम था० मालूम होता कि रेलवे कंपनी स्वभाव (Nature) की बड़ी शत्रु है क्योंकि जितनी बातें स्वभाव से संबंध रखती हैं अर्थात् खाना, पीना, सोना, मलमूत्र त्याग करना इन्हीं का इसमें कष्ट है० शायद इसी से अब हिंदुस्तान में रोग बहुत हैं० कभी सराय की खाट के खटमल और भटियारियों का लड़ना याद आया० यही सब याद करते कुछ सोते जागते हिलते हिलते आज बस्ती पहुँच गए० बाकी फिर० यहाँ एक नदी है उसका नाम कुआनय० डेढ़ रुपया पुल का गाड़ी का महसूल लगा।

मेंहदावल

आज सुबह सात बजे मेंहदावल पहुँचे० सड़क कच्ची है० राह में एक नदी उतरनी पड़ती है उसका नाम आमी है० छः आना पुल का महसूल लगा० रात को ग्यारह बजे पालकी पर सवार हुए० बदन खूब हिला। अन्न भी नहीं पचा० इस वक्त यहाँ पड़े हैं० यहाँ मक्खी बहुत हैं और आबादी बहुत है० दो लड़कों के स्कूल हैं और एक लड़कियों का स्कूल है और एक डाक्तरखाना है० बस्ती शहर है मगर उससे यह मेंहदावल गाँव बहुत आबाद है० फैजाबाद में ५।।) बस्ती तक डाँक का लगा और बस्ती से मेंहदावल तक ३।।।) पालकी का० अभी एक गँवार भाट आया था बेतहर बका० फूहर औरतों की तारीफ में एक बड़ा भारी पचड़ा पढ़ा० यहाँ गरमी बहुत है और मक्खियाँ लखनऊ से भी जियादा० दिन को बड़ी बेचैनी है।

यहाँ की औरतों का नाम श्यामतोला, रामतोला, मनतोरा इत्यादि विचित्र विचित्र होता है और नारंगी को भी यही श्यामतोला कहते हैं जो संगतरा का अपभ्रंश मालूम होता है क्योंकि यहीं के गँवार संतोला कहते हैं० यहाँ एक नाऊ बड़े पंडित थे० उनसे किसी पंडित ने प्रश्न किया 'किं दूधं' (तुम कौन जात हो) तब नाई ने जवाब दिया 'चटपटाक चटपटाक' (नाई) तब ब्राह्मण ने कहा 'तं दूरं' (तुम दूर जाओ), तब नाई ने जवाब दिया 'किं छौरं' (तब मूछ कौन मूड़ेगा)० एक का बाप डूबकर मर गया उसके बाप का पिंडा इस मंत्र से कराया गया 'आर गंगा पार गंगा बीच में पड़ गई रेत० तहाँ मर गए नायका चले बुज बुजा देत० धर दे पिंडवा।'

श्रद्धांजलियाँ

कवि की कलाभिज्ञता

संस्कृत का एक सिद्धांत है—'गुणी गुणं वेत्ति'। उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि कवि-कर्म का वास्तविक ज्ञान कवि को ही होता है। कलाविद् ही जान सकता है कि कला क्या वस्तु है, वह कितनी आदरणीया है और साहित्य में उसका क्या स्थान है। बाबू हरिश्चंद्र की वदान्यता प्रसिद्ध है। जैसे ही वे वदान्य थे वैसे ही कलामर्मज्ञ भी। यदि मुक्तहस्त होकर वे याचकों की कामनाओं की पूर्ति करते थे, तो कवियों और कलाविदों पर भी यथावसर कंचन बरसा जाते थे। उनकी रीझ साधारण रीझ नहीं होती थी, उसके लिये वे उदारता का द्वार सदा उन्मुक्त रखते थे। अपनी प्रकृति का उन्हें यथार्थ ज्ञान था, क्योंकि वही उनके हृदय की संचालिका थी। अतएव कभी कभी अपनी इस प्रकृति का उल्लेख वे अपनी रचनाओं में भी कर जाते थे। निम्नलिखित पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं—

परम प्रेमनिधि रसिकवर अति उदार गुन खान।

× × ×

यह दूजो हरिचंद को करत इंद्र उर सोक।

बाबू हरिश्चंद्र की इस उदारता और दान-प्रवृत्ति को मैंने एक बार आँखों देखा था, मैं उसी की चर्चा इस लेख में करूँगा। वे कितने उदार हृदय और कलामर्मज्ञ थे, आप लोगों को इसका कुछ अनुभव इस लेख को पढ़कर होगा। कला क्या वस्तु है, उसका कहाँ तक आदर होना चाहिए, इस लेख द्वारा उसपर भी कुछ प्रकाश पड़ेगा।

युक्तप्रांत के आजमगढ़ जिले में निजामाबाद एक प्रसिद्ध कसबा है। यही मेरा जन्मस्थान है। बाबा सुमेरसिंह इस कसबे के प्रसिद्ध विद्वान् और सुकवि थे। निजामाबाद में सिक्खों की एक बड़ी संघत है, आप उसके महंत थे। पीछे वे बनारस की रेशमकटरा महल्ले की संघत और पटने के भारत-विख्यात सिक्ख मंदिर के भी महंत हो गए थे। एक बार उन्हीं के साथ मैं काशी आया। उस

समय मेरी अवस्था सोलह वर्ष की थी, अबतक पचपन वर्ष बीत चुके हैं। बाबा जी रेशमकटरे की संघत में ही ठहरे थे। उसमें एक सुंदर दालान है। उसी में बैठे एक दिन वे काशी के कुछ प्रसिद्ध साहित्यसेवियों के साथ साहित्य-चर्चा कर रहे थे। मजे ले लेकर कवित्त पढ़े जा रहे थे और सहृदयता के साथ उनकी आलोचना हो रही थी। इसी बीच संघत के आँगन में एक दिव्य मूर्ति का आविर्भाव हुआ। उसके पाँवों में चूड़ीदार काली बानात का पाजामा, बदन पर मखमली अंगा, शिर पर ऊँची गोल टोपी और कंधों पर नफीस शाली रूमाल था। वह मुसकुराती हुई, पान चाबती बाबा जी की ओर आ रही थी। उसके घुँघराले बाल कांत कपोलों के दोनों ओर बिखरे हुए थे और मंद वायु लगने से बड़ी मनोहरता के साथ हिल रहे थे। हाथ में एक पतली छड़ी थी जो उनकी चंचल आँखों से भी अधिक चंचल थी। बाबा जी की दृष्टि ज्यों उसपर पड़ी, वे उठ खड़े हुए और यह दोहा पढ़ते हुए आगे बढ़े—

आवहु आवहु मित्रवर, दरसावहु मुखचंद।
बरसावहु बानी सुधा, सरसावहु आनंद॥

स्वागत की क्रिया समाप्त होने के बाद जब आगत मूर्ति उचित स्थान पर बैठ गई उस समय उसके अधर पर हँसी नर्तन कर रही थी। यह प्रसन्नवदन मूर्ति भारतेंदु जी की थी, आशा है आप लोग यह समझ गए होंगे। अभी बैठते देर नहीं हुई थी कि उनके मुख से यह दोहा निकल पड़ा—

पाइ सुकृत कब चंदमुख, मो समान मतिमंद।
हरिसुमेर मुखचंद ही, है साँचो मुखचंद॥

जिस समय यह दोहा उनके मुख से निकला, हँसी की एक लहर सी वहाँ फैल गई। बाबा सुमेरसिंह बड़े सुंदर पुरुष थे। वे कनककांति थे। उनकी सीधी, लंबी, सुढार, श्यामल दाढ़ी पर उनका दीप्तिमान मुख वैसा ही दमकता रहता था जैसे नील-निर्मल गगन में राकामयंक। कविता में वे अपने को 'हरिसुमेर' नाम से ही प्रकट करते थे। अतएव भारतेंदु जी की उक्ति कितनी सामयिक और सुंदर हुई, इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं। कुछ समय तक परस्पर विनोद की बातें होती रहीं, उसके बाद फिर साहित्य-चर्चा छिड़ी, कवित्त और सवैए पढ़े जाने लगे। बाबा जी ने सिक्खों के दशम ग्रंथ साहब की अनेक सुंदर रचनाएँ लोगों को सुनाईं, अपने कितने मनोहर पद्य पढ़े जिससे वहाँ आनंद की धारा सी

बहने लगी। वहाँ उस समय हनुमान नामक एक कवि भी उपस्थित थे। वे शायद ब्रह्मभट्ट थे, सुंदर कविता करते थे। सुकंठ तो ऐसे थे कि जादू करते थे। उन्होंने बाबा जी से निवेदन किया कि आज्ञा हो तो मैं अपनी एक रचना सुनाऊँ। भारतेंदु जी ने कहा—'अवश्य, अवश्य'। सहृदय हनुमान ने यह कविता पढ़ी—

आई अनमनी ह्वै बदन पियराई छाई
सुधि ना रही है तेहि आपने पराए की।
कहत कछू को कछू करत कछू को कछू
देखत हौं आज तेरी गति गतवारे की॥
नेकु थिर ह्वै कै बैठु राई लोन वारौं तो पै
तू तो हनुमान मेरी संगिनी है वारे की।
बजर परो री मो पै पठई कहाँ ते उहाँ
नजर लगी री तोहिं जुलफनवारे की॥

जैसे ही कविता समाप्त हुई, 'वाह! वाह!' की ध्वनि गूँज उठी। यदि बाबाजी आनंद-तरंगों में बहने लगे, तो भारतेंदु जी के विनोद का प्याला बेतरह छलक उठा। बोले—'सहृदयवर! तुम्हारी रचना की प्रशंसा मैं जितनी करूँ थोड़ी है। उसमें जितना प्रसाद गुण है, वैसी ही मार्मिकता है। व्यंजना ऐसी अनूठी है, मानसिक भाव का विकास इतना स्वाभाविक और सुंदर हुआ है कि वाह रे वाह! भाई एक बार फिर और अपनी कविता सुनाकर सुधा बरसाओ!' हनुमान उछल पड़े। अबकी बार एक अद्भुत मुद्रा से उन्होंने अपनी कविता दोहराई। बाबू साहब बेतरह फड़क उठे। कहा—'वाह! क्या प्रवाह है, कैसी प्रांजलता है।' यह कहते कहते वे उचके और अपनी बहुमूल्य शाल कंधे पर से उतारकर उन्हें उढ़ा दी। फिर प्रफुल्ल होकर बोले—'इस शाल का मूल्य तुम्हारी कविता के सामने कुछ नहीं है।' बाबा सुमेरसिंह की आकाशवृत्ति थी, वे रिक्तहस्त थे। कभी उनके पास पूजा के सैकड़ों रुपए रहते, कभी फूटी कौड़ी न होती। बाबू साहब की वदान्यता एवं गुणग्राहिता देखकर वे मुग्ध हो गए। उनसे न रहा गया। पहले कुछ चंचल दिखलाई पड़े। फिर अपने हाथ की ओर उनकी दृष्टि गई। उसमें एक सोने की अँगूठी थी, उसे देखते ही उनका चित्त उत्फुल्ल हो गया। उसे उन्होंने धीरे से उतारा और हँसते हुए हनुमान कवि की उँगली में पहिना दिया। वे कुछ संकुचित हो गए, परंतु उस समय की उनकी आनंदजनित विह्वलता दर्शनीय थी।

जिस कविता पर हनुमान कवि को इतना आदर मिला, सोने की अँगूठी और बहुमूल्य शाल मिल गई, आजकल की प्रवृत्ति उसको दो कौड़ी की भी न समझेगी। जिस नायिका से संबंध रखनेवाली यह कविता है उसका नाम लेना भी वह पाप मानेगी। बाबा साहब और बाबू साहब की वदान्यता अथवा गुणग्राहिता को भी प्रमाद गिनेगी, क्योंकि शृंगार रस की कविता इन दिनों आदरणीय नहीं समझी जाती। समय बदलता रहता है, कभी कभी उसका प्रवाह किसी किसी विषय के लिये विकराल रूप धारण कर लेता है। परंतु यदि उसको सत्यता का बल रहता है, उसमें सौंदर्य होता है, वह किसी कला से कलित होती है, उसमें सच्चा मानसिक उद्गार पाया जाता है, तो उसका लोप इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं कर सकती। जो प्रवृत्ति आज शृंगार रस पर खड्गहस्त है उसीको रूपांतर से उसी के चरणों पर पुष्पांजलि अर्पण करते देख रहे हैं। शृंगार रस साहित्य का जीवन है, वह वास्तव में रसराज है, उसके अभाव में रसिकताकादंबिनी रसहीन बन जावेगी और कलाकल्लोलिनी वारिविहीन। कविता का हराभरा उद्यान उजड़ जायगा और काव्य का मनोहर शाद्वल मरुस्थल कहलाएगा। गुणी गुण देखता है और सहृदय विषय का हृदय। जिसमें मानसिक व्यापारों का सच्चा चित्र है उसको असत्य पर आधारित नहीं कह सकते। कला का आदर कला की दृष्टि से ही होगा, क्योंकि कला की पूर्णता सौंदर्य का ही रूपांतर है। कविता के जो स्वाभाविक गुण हैं उनकी उपस्थिति में कविता कविता ही रहेगी, कुछ और न बन जावेगी। ऐसी दशा में किसी कवि हृदय का, किसी सहृदय पुरुष का उसपर रीझ जाना स्वाभाविक है, अस्वाभाविक नहीं। उसके लिये किसी योग्य पात्र को पुरस्कृत करना, उत्साहित बनाना, वदान्यता देवी के कंठ को पारिजात कुसुमावलि से अलंकृत करना और कलाभिज्ञता सुंदरी के कांत कलेवर को सुसज्जित बनाना है, यह कौन न स्वीकार करेगा? इसलिये यह कहा जायगा कि बाबू साहब और बाबा साहब का उस दिन का कार्य अनुमोदनीय और आदरणीय है, और इसीलिये उल्लेखनीय भी। वह एक उत्तम आदर्श भी उपस्थित करता है।❀

—(स्व०) पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

❀ स्वर्गीय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" का उन्हीं के हाथ का लिखा यह अप्रकाशित लेख हमें इस भारतेंदु अंक में प्रकाशनार्थ श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी० से प्राप्त हुआ जिसके लिये हम उनके आभारी हैं। —संपा०

पत्र-पुष्प

आज से पचास वर्ष पहिले हमारी स्थिति बड़ी बेढब हो रही थी। हमारे चिर-पोषित साहित्य से हमारा नाता टूटने पर था। हमारे राजनीतिक जीवन से तो हमारी भाषा टोडरमल की कृपा से मुसलमानों ही के समय में अलग हो चुकी थी। इधर जब अंग्रेजों का प्रकाश हमपर पड़ा और हमें संसार की गति का ज्ञान हुआ तब हम सामयिक प्रवाह की ओर एक विदेशी भाषा के सहारे पर दौड़ पड़े। हमारा साहित्य जहाँ का तहाँ छूटा जाता था, इसी बीच में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने उसे उठाकर सशक्त किया और हमारे साथ उसे फिर लगा दिया। जिन जिन मार्गों पर हमारे विचार जा रहे थे उनकी ओर हमारे साहित्य को बड़ी सफाई के साथ उन्होंने मोड़ दिया। किसी जाति का साहित्य जब बराबर उसके विचारों और व्यापारों के साथ लगा हुआ चला चलता है तभी जीवित रह सकता है। अतः भारतेंदु ने हिंदी को बड़ी बुरी दशा में पड़ने से बचाया। यदि कहीं हमारे साहित्य का हमसे वियोग हो जाता, जिसके सब सामान इकट्ठा थे, तो क्या सभ्य संसार में हम अपना मुँह दिखाने लायक रह जाते? सोचिए तो कि हिंदी भाषा, और उत्तरीय क्या राष्ट्रभाषा के नाते सारे भारत पर इनका कितना उपकार है। आज जो हम लोग नए नए विचारों को मँजी हुई भाषा में प्रगट करते और चारों ओर हिंदी पुस्तकों और पत्रों को उमड़ते देखते हैं तो वह इन्हीं की बदौलत। हिंदी को उन्नति के आधुनिक मार्ग पर लाकर खड़ा करनेवाले यही थे। अब हमें चाहिए कि राजनीति, विज्ञान, दर्शन, कला आदि के जो जो भाव हम अपनी संसार-यात्रा में प्राप्त करते जायँ उन्हें अपनी मातृभाषा हिंदी को बराबर सौंपते जायँ क्योंकि यही उन्हें हमारी भावी संतति के लिये संचित रखेगी। साथ ही हमारा यह भी कर्तव्य है कि उस महात्मा को, जिसका यह उपदेश था—

> विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
> सब देशन सों लै करहु, भाषा माँहि प्रचार॥

न भूलें और न भरसक किसी को भूलने दें। संसार के समस्त सभ्य देशों में महान् पुरुषों की स्मृति को जागृत रखना सच्चे लोकोपकारी कार्यों की उत्तेजना का एक साधन समझा जाता है। महात्माओं के जीवन को तो स्वार्थ स्पर्श कर ही नहीं सकता अतः उनका जो कुछ आदर किया जाता है उससे उनका कोई उपकार नहीं बल्कि समाज का उपकार होता है। उनके जीवनोपरांत भी यदि उनका स्मरण किया

जाता है तो उससे लोक का बहुत कुछ भला हो जाता है। यह बात यूरपवालों के मन में अच्छी तरह बैठ गई है। वे अपने प्रतिभासंपन्न कवियों और ग्रंथकारों का स्मरण कराते रहने के लिये अनेक युक्तियाँ रचा करते हैं। उनकी जयंतियाँ मनाई जाती हैं, उनके नाम पर क्लब और पुस्तकालय चलते हैं और पुस्तकमालाएँ निकलती हैं। लज्जा की बात तो है पर कहना ही पड़ता है कि हम भारतवासियों में इस प्रवृत्ति का अभाव है। यदि हम अपने साहित्य-संचालकों का उचित आदर नहीं करते हैं तो संसार को यह कहने में संकोच नहीं कि हमने विद्या की शक्ति को अभी तक नहीं समझा है और हम झूठी तड़क भड़क के श्रद्धालु बने हुए हैं। हम भारतवासी बहुत कुछ ऊँचा नीचा देख चुके। अब हमें सच्चे पुरुष-रत्नों की परख होनी चाहिए। हमें उनका आदर करने का फल और माहात्म्य समझना चाहिए।

यों तो वर्तमान हिंदी में जो कुछ देखा जाता है वह भारतेंदु ही की प्रभा का स्मारक है। पर किसी वस्तु को निर्दिष्ट किए बिना जी भी नहीं मानता। जिस कार्य के लिये किसी महान् पुरुष ने प्रयत्न किया हो उसमें प्रवृत्त होकर उसे आगे बढ़ाना ही उसका सच्चा स्मरण करना है। अतः जिस वृक्ष को भारतेंदु लगा गए उसके पत्रपुष्प से बढ़कर उनका और क्या स्मारक हो सकता है?*

—(स्व०) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

स्वतंत्रता-युद्ध के प्रेरक भारतेंदु

भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र जी और मेरे पिता श्री माधवदास जी का परस्पर बहुत स्नेह रहा। पिता के साथ मैंने अपने लड़कपन में उन्हें बहुत बार देखा। उनके और मेरे कुल के कई पीढ़ियों से वैवाहिक संबंध होते रहे हैं। अग्रवाल बालकों के लिये काशी की पहली पाठशाला भारतेंदु जी ने ही स्थापित की। जो गृह छन्नूलाल की धर्मशाला के नाम से प्रसिद्ध है उसी में इस पाठशाला का आरंभ हुआ था। मैंने और मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री गोविंददास जी ने उसमें पढ़ा है, यद्यपि अक्षरारंभ तो मेरा घर पर इसके कई वर्ष पहले ही हो चुका था। थोड़े ही दिनों बाद मैं उस समय की सरकारी पाठशाला क्वींस कालेजिएट स्कूल में पढ़ने चला गया।

---

* भारतेंदु स्मारक ग्रंथमाला में प्रकाशित 'बंगमहिला' के 'कुसुमसंग्रह' की भूमिका (सन् १९२९)।

भारतेंदु जी में बहुत से गुण थे। कुछ दोष भी थे, पर 'वृद्धास्ते न विचारणीय-चरिताः'। भारत के हिंदी साहित्य तथा सार्वजनिक कार्य को बड़ी हानि हुई कि वे ऐसे अल्पायु हुए। अपनी आयु के पैंतीसवें वर्ष ई० सन् १८८५ में उन्होंने शरीर छोड़ा। इतनी ही थोड़ी आयु में उन्होंने बड़े काम किए। जो विचार स्वतंत्रता-युद्ध के लिये बहुत पीछे कांग्रेस के नेताओं को हुए, वे विचार उन्होंने पहले ही हिंदीभाषी जनता के सामने रखे। अंग्रेजी अफसरों से वैमनस्य भी हुआ, पर इसकी उन्होंने कुछ चिंता नहीं की।

भारतेंदु जी नई हिंदी के जन्मदाता हुए। वे बहुत अच्छे अच्छे गीत-काव्य और कई उत्तम नाटक तथा निबंध छोड़ गए हैं जिनका स्थान हिंदी साहित्य में अमर है।

भारतेंदु जी के गृह पर विद्वानों का दरबार सदा जमा रहता था। उनमें विशेष नामोल्लेख के योग्य श्री अंबिकादत्त व्यास हैं। व्यास जी के संस्कृत ग्रंथों को उनके देहावसान के बहुत वर्षों बाद पढ़ा। उनका 'शिवराज-विजयः' नाम का ऐतिहासिक गद्य-काव्य बहुत उत्कृष्ट ग्रंथ है। खेद का विषय है कि काशी के पंडितों ने उसका आदर नहीं किया, प्रत्युत तिरस्कार किया। पंडित-मंडली में जो महा-काव्य और लघुकाव्य के नाम से प्रसिद्ध हैं वे नितांत अश्लील और अभद्र पद्काव्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी सैकड़ों वर्ष से पढ़ाए जा रहे हैं। उनमें ग्रंथकर्ताओं के समयों में जो बड़ी बड़ी ऐतिहासिक घटनाएं हो रही थीं, उनकी कहीं चर्चा नहीं है। केवल रामायण और महाभारत के एक एक दो दो अंश लेकर अभद्र रूप से विस्तार किया गया है। 'शिवराजविजयः' में महाराज शिवसिंह के पराक्रमी कार्यों का और महाराष्ट्र राज्य के स्थापन का वृत्तांत बहुत सुंदर रीति से उत्तम संस्कृत शब्दों में किया है।

हरिश्चंद्र जी ने राजा शिवप्रसाद से पढ़ा था, पर पीछे उनका विरोध किया क्योंकि राजा शिवप्रसाद जी अंग्रेजी सरकार के भक्त थे और ये विरोधी। राजा शिवप्रसाद जी ने भी हिंदी के लिये बहुत ठोस काम किया। इंस्पेक्टर ऑव स्कूल्स् के रूप में 'इतिहास तिमिरनाशक' उन्होंने लिखा जिसमें प्रथम बार भारत का २००० वर्षों का क्रमबद्ध छोटा इतिहास प्रस्तुत किया। पाठशाला में पढ़ाई के दिनों में मेरे पाठ्य-क्रम में यह ग्रंथ था। अब तो उसकी बातें बहुतेरी अतथ्य सिद्ध हो गई हैं, पर अपने समय में उसने बहुत काम किया। राजा शिवप्रसाद जी ने अंग्रेजी

आख्यानक 'राबिन्सन् क्रूसो' का अनुवाद करके नागरी अक्षरों में छपवाया तथा 'संसार के पशुपक्षी' नाम से भी एक (बहुत से चित्रों सहित) ग्रंथ की रचना की। इन दोनों ग्रंथों को मैंने अपने लड़कपन में कई बार पढ़ा।

भारतेंदु जी की रचनाओं में कुछ पद और 'नीलदेवी', 'सत्यहरिश्चंद्र' नाटक तथा 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद विशेष रूप से पढ़ा है। नागरीप्रचारिणी सभा का, उनकी संपूर्ण रचनाओं का संग्रह तीन संचिकाओं (जिल्दों) में प्रकाशित करने का आयोजन बहुत अच्छा है, जिनमें एक प्रकाशित हो चुकी है और दूसरी भारतेंदु जन्मशती उत्सव के अवसर पर प्रकाशित हो रही है।

बयासी वर्ष की आयु में मैंने अद्भुत परिवर्तन देखे। बचपन में पीतल की दीवट पर मिट्टी या पीतल में भरे सरसों के तेल और रुई की बत्तियों की ज्योति में रात में पढ़ा और गृह में प्रकाश होते देखा; फिर कंदील (candles), चले ; फिर मिट्टी का तेल विविध प्रकार के लंप लालटेनों में ; अब बिजली के दीपक। आदि में नरकट की, फिर बत्तक के पर की (goose quills), फिर लोहे के 'निब' और 'होल्डर' की लेखनी से लिखा, अब 'फाउनटेनपेन्' से लिखता हूँ। विवाहों में जब बरयात्रा रात में चलती थी तब पंच-शाखा और अलातों (मशालों) के प्रकाश में। मसी बालू से सुखाई जाती थी, अब सोखता (ब्लाटिङ् पेपर) से। विवाहादि में मुहूर्त्त (सायत) बालू की घड़ी से साधा जाता था, अब जेबघड़ी और कलाई घड़ी से। दो सौ वर्ष तक अंग्रेजी राज के पीछे एक दिन में १५ अगस्त सन् १९४७ में भारत का स्वतंत्र राज हो गया और भारत के दो खंड भी साथ ही हुए। यदि आज भारतेंदु जी जीते होते तो उनको बड़ा आनंद भी और भारी दुःख भी होता। प्रकृति का अखंडनीय नियम है—एक गुण के साथ एक दोष सदा लगा ही रहता है।

—डा० भगवानदास

हिंदी के इंद्र

भारतेंदु हरिश्चंद्र का पैंतीस वर्ष (सं० १९०७–१९४१)का परिमित जीवन असाधारण रचनाशक्ति से भरा हुआ था। बिजली के दहकते लट्टू की तरह उनके मस्तिष्क का प्रकाश बढ़ना शुरू हुआ और पंद्रह वर्षों के स्वल्प काल में वह पराकाष्ठा को पहुँचकर अंत में बुझ गया। सौ वर्ष पूर्व के भारत-निर्माताओं में उनका आकर्षक व्यक्तित्व हठात् अपनी ओर ध्यान खींचता है। उनके जीवन का हर पहलू

साहित्य से ओतप्रोत हो गया था। साहित्य उनके लिये बुद्धि का कुतूहल अथवा अवकाश बिताने का विनोद मात्र न था, वह उनका जीवन-संदेश हो गया था।

सन् '५७ के विप्लव के बाद राष्ट्र का निर्माण करनेवाली जो शक्तियाँ सामने आईं उनमें हिंदी गद्य का प्रमुख स्थान है। राष्ट्र के मनोभावों, नई आकांक्षाओं और मस्तिष्क की नई हलचलों को लेख और वाणी के द्वारा प्रकट करने के लिये जिस सर्वसुलभ समर्थ साधन की आवश्यकता थी वह हिंदी गद्य के रूप में उत्पन्न हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र उस गद्य के निर्माता थे। यों तो मुंशी सदासुखलाल (१८०३-१८८१), इंशाअल्ला खाँ (मृत्यु १८७५), लल्लूलाल (सं० १८२०-८२) और सदल मिश्र ने हिंदी गद्य का सूत्रपात भारतेंदु से काफी पहले ही कर दिया था, लेकिन गद्य की वह शैली पुरानी विचारधारा और परंपरा के साथ जुड़ी थी। राष्ट्र के नए हृदय के साथ उसका मेल नहीं हुआ था। व्याकरण एवं शब्दावली दोनों की दृष्टि से उसका स्वरूप बोलियों से अधिक न था। संवत् १८६० में लल्लूलाल ने प्रेमसागर की रचना की थी। पुनः उसके लगभग ५० वर्ष बाद तक हिंदी गद्य की भट्टी ठंडी पड़ी रही। संवत् १९३० में भारतेंदु जी ने 'हरिश्चंद्र मेगजीन' का आरंभ किया जो आठ अंकों के बाद 'हरिश्चंद्रचंद्रिका' कहलाया। यही वर्ष हिंदी गद्य के लिये क्रांतिकारी परिवर्तन का हुआ। यहीं से भारतेंदुजी ने खड़ी बोली के गद्य की नई शैली आरंभ की जिसके लिये उन्होंने स्वयं लिखा था—'हिंदी नई चाल में ढली'। हिंदी की यह नई शैली उत्तरोत्तर मँजने लगी, अर्थों को प्रकाशित करने का उसका सामर्थ्य दिन दिन बढ़ता गया और लोक के जीवन में वह अधिकाधिक व्याप्त होने लगी। लोगों के विचारों और राष्ट्र की प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करने के लिये हिंदी गद्य एक सच्चा दर्पण बन गया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा नाटक, उपन्यास, निबंध, इतिहास, समाचार-प्रकाशन आदि विभिन्न क्षेत्रों में हिंदी गद्य का प्रयोग किया था। उनकी देखादेखी उनके प्रभाव से प्रभावित होकर हिंदी के समर्थ गद्य-लेखकों की एक परंपरा ही चल पड़ी। इंद्र जैसे अपने वज्र से रुँधे हुए जल-प्रवाहों को उन्मुक्त कर देता है और जल-थल में मूसलाधार वृष्टि होने लगती है, कुछ ऐसे ही भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी भाषा के रुँधे हुए स्रोतों को मानो खोल दिया और उनसे छूटे हुए प्रवाह साहित्य की भूमि को सींचते हुए चारों ओर फैल गए। हरिश्चंद्रयुग हिंदी के गद्य-लेखकों का

स्वर्णकाल था। उस समय के लेखक हिंदी की निजी प्रकृति के निकट थे। उनकी शैली में संस्कृत का बोझ न था और न अंग्रेजी का विदेशीपन। पंडित प्रताप नारायण मिश्र (सं० १९१३–५१), उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी (सं० १९१२–७९), ठाकुर जगमोहनसिंह (सं० १९१४–५६), 'हिंदी प्रदीप' के संपादक पंडित बालकृष्ण भट्ट (सं० १९०१–७२), पंडित अंबिकादत्त व्यास (सं० १९१५–५७), लाला श्रीनिवासदास (सं० १९०८-४४), पंडित केशवराम भट्ट (१९११–५९), पंडित राधाचरण गोस्वामी (१९१५–८२) आदि लेखकों की कृपा से भारतेंदु-युग और उसके बाद का हिंदी-क्षेत्र अनेक प्रकार की साहित्यिक रचनाओं से समृद्ध बन गया। साहित्य की सुनसान पड़ी हुई बस्तियाँ नए मंगल से जगमगाने लगीं। राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद, पंजाब के बाबू नवीनचंद्र राय एवं पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी, ये भी भारतेंदु जी के समकालीन थे। गुजराती मातृभाषा होते हुए भी हिंदी को अपनानेवाले स्वामी दयानंद सरस्वती का कार्य-काल भी वही था जो भारतेंदु का। दोनों की मृत्यु संवत् १९४१ में हुई। हिंदी के अनन्य हितैषी इसी युग के श्री पिंकाट महोदय (सं० १८९३-१९५८) का हिंदी-प्रेम भी स्मरणीय रहेगा जिन्होंने हिंदी-प्रचार का बहुत काम किया।

हिंदी का अलख जगानेवालों में सबसे ऊँचा स्थान तो निःसंदेह भारतेंदु का ही था। उन्होंने मनसा-वाचा-कर्मणा हिंदी-सेवा का व्रत ग्रहण कर लिया था। उनका तन-मन-धन सब कुछ हिंदी के लिये अर्पित हो चुका था। एक व्यक्ति अपनी अनन्य साधना से हिंदी का कितना अधिक हित कर सकता है इसके बहुत अच्छे दृष्टांत भारतेंदु जी थे। उनके मस्तिष्क और हृदय में हिंदी के लिये एक विस्फोट हुआ। उसीके जलते हुए फूल चारों ओर फैल गए। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनमें नए और पुराने का सुंदर सामंजस्य था, अर्थात् नए भावों का स्वागत और अतीत के कल्याणकारी भावों की प्रतिष्ठा। उनके हृदय की सरसता भक्ति, शृंगार और राष्ट्रीयता का प्रतिपादन करनेवाली कविता में बह निकली। उन्होंने नाटकों की रचना की। वे नाटकों के अभिनय कराने का प्रबंध भी करते, एवं स्वयं अभिनेता बनकर रंगमंच पर उतरते थे। भारतेंदु के समय में हिंदी रंगमंच की निराली शान थी। यदि वही परिपाटी चलती रहती तो आज तक हिंदी का-रंगमंच बहुत आगे बढ़ गया होता। साहित्य का सर्वोत्तम रूप नाटकों के द्वारा ही प्रकट होता है। कालिदास ने नाटक को चाक्षुष यज्ञ कहा है। हिंदी संसार को अपने रंगमंच के भूले हुए सूत्रों को फिर से पकड़ना होगा। पुरातन उदात्त

चरित्रों की जैसी स्पष्ट, प्रभावशालिनी व्याख्या रंगमंच पर सफल अभिनेता प्रस्तुत कर देता है वैसी अन्य प्रकार से संभव नहीं। अच्छा रंगमंच उच्च कोटि के साहित्यिक निर्माण में सहायक होता है।

भारतेंदु जी ने इतिहास-लेखन की ओर भी ध्यान दिया। 'काश्मीरकुसुम', के नाम से राजतरंगिणी के कुछ अंशों का अनुवाद किया। निबंध, नाटक, उपन्यास, संपादन, कविता और इतिहास सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया। किंतु उनकी कार्य-शक्ति कोरे साहित्य-सृजन तक सीमित न थी। हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता सिद्ध करने के लिये वे व्याख्यान भी देते और उनके प्रचार के लिये पुस्तिकाएँ भी लिखते थे। सरकारी दफ्तरों में नागरी के प्रवेश के लिये भी उन्होंने उद्योग किया। उनके जीवनकाल में तो नहीं, पर सं० १९५७ में यह आंदोलन सफल हुआ। अपने इस स्वरूप में वे नवीनतम हिंदी-हितैषी नेता से लगते हैं। अपने व्याख्यानों के प्रसंग में वे जहाँ जाते वहाँ एक पर्व या उत्सव का समाँ बँध जाता। उनके चारों ओर का वायुमंडल जिंदा-दिली का नमूना था। भारतेंदु का रहना-सहना, उठना-बैठना, साँस लेना और जीवित रहना सब कुछ हिंदीमय था। हिंदी भाषा उनके जीवन की धुरी थी। हिंदी का जो रथ उन्होंने चलाया उसका बढ़ता हुआ स्वर आज लोक में गूँज रहा है। अगले सौ वर्षों में हिंदीभाषियों का यह लोकसंवादन स्वर कितना शक्तिशाली और व्यापक हो जायगा, यह हमारी साधना पर निर्भर करेगा।

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

हिंदी जगत् की एक विभूति

भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी जगत् की एक विभूति थे। उनका नाम लेते ही उनके कवि-दरबार का चित्र सामने झूलने लगता है। इस विषय में उनकी तुलना जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे से की जा सकती है। गेटे कवि होने के अतिरिक्त एक महनीय विचारक भी थे और उनका दरबार तत्कालीन मान्य कवियों, लेखकों, वैज्ञानिकों तथा राजनीतिज्ञों के जमघट से सदा चमत्कृत रहता था। यही बात भारतेंदु के विषय में भी सत्य है। परंतु दुःख की बात है कि जहाँ एकस्मात की कृपा से गेटे का यह सार्वभौम रूप विद्वानों को रिझाता रहेगा वहाँ हरिश्चंद्र के इस चटकीले चित्र को अंकित करने का कोई समुचित उद्योग नहीं हुआ।

हरिश्चंद्र का आदर सर्वत्र होता था। रईसों की मंडली के वे बबुआ थे, पंडितों की विद्वमंडली के बाबू थे और राजाओं के राजसी दरबार के रसिया थे। डुमराँव के राजा राधिकाप्रसाद सिंह हरिश्चंद्र के गुणग्राही राजाओं में अन्यतम थे। राजा साहब भोजपुराधीश होने के नाते भोजपुरी के ऐसे भक्त थे कि भारत के बड़े लाट से भी इसी में बातचीत करते थे। एक बार उन्होंने बड़े लाट को बहुत बड़ी दावत दी। उनकी आवभगत में कुछ उठा नहीं रखा गया। दावत के अंत में राजा साहब ने श्रोताओं को अत्यंत आश्चर्य में डाल दिया जब उन्होंने लाट साहब से ठेठ भोजपुरी में पूछा—"कहीं सरकार, खूब कचराकूट भइल हा नू ?" यह 'कचराकूट' बहुत दिनों तक अफसरों के हृदय में हँसी के फौवारे उठाता रहा।

इन्हीं राजा साहब के दरबार में भारतेंदु की बड़ी अभ्यर्थना हुई। इस दरबार में अनेक कविजन अपनी कला दिखलाकर अपने स्वामी की अनुकंपा और प्रसाद अर्जन किया करते थे। एक दिन अपने इन्हीं कवियों के विषय में राजा साहब भारतेंदु जी से पूछ बैठे—'कहीं, हमरा इहाँ के कविलोग कइसन बाड़े ?' भारतेंदु झट बोल उठे—'राउर कवि लोगन एसन कवि संसार में ना मिलिहें। हमनी का त पिंगल के नियम से कविता करिलें, लेकिन राउर कवि लोग सूत से नापि जोखि के कविता करेला लोग, सूत से अधिका भइला पर ऊ पद के काटि देला।' सुनते हैं, राजा साहब इस उत्तर से बड़े प्रसन्न हुए।

संस्कृत के मान्य आलोचक राजशेखर की 'कविचर्या' भारतेंदु पर इतने अच्छे ढंग से घटती है कि दोनों की तुलना आश्चर्य में डाल देती है। भारतेंदु के जीवन का एक ही अध्यवसाय था—काव्यकला की उपासना। ऐसे सारस्वत कवि के लिये काव्योपासना का कोई नियत काल नहीं होता। भारतेंदु जी के बाहर निकलने पर एक सेवक दावात-कलम (अभी फाउंटनपेन का समय दूर था) और कागज लेकर साथ साथ चलता था। उनका स्वभाव था कि चलते चलते रुक जाते और भरे चौक में भी अपनी नवीन सूझ कागज पर अंकित करने लगते।

हरिश्चंद्र बड़े विनोदप्रिय थे। एक बार फर्स्ट क्लास के डिब्बे में रेल से यात्रा कर रहे थे। उसमें एक अंग्रेज अफसर भी था। एक स्टेशन पर वह किसी कार्य से बाहर गया। इतने में आया पानी, और बौछार डिब्बे में भी आने लगी। अंग्रेज स्वयं भी हँसोड़ प्रकृति का था। आते ही हँसकर भारतेंदु से पूछा—'हू हैज मेड वाटर ?' (किसने लघुशंका की ?)। हरिश्चंद्र ने छूटते ही उत्तर दिया—'नॉट आइ, बट गॉड (मैंने नहीं, ईश्वर ने)। इस साहित्यिक उत्तर में अंग्रेजी के 'मेक

वाटर' के श्लिष्ट अर्थ का भरपूर निर्वाह था। अंग्रेज हँसी से लोटपोट हो गया और भारतेंदु की बड़ी प्रशंसा की।

भारतेंदु को बलिया की ओर विशेष आकर्षण था, जिसके केंद्रबिंदु थे हिंदी के उदार हितैषी महाराजकुमार रामदीन सिंह। ये बड़े आस्तिक और परम भागवत होने के अतिरिक्त पटने में खड्गविलास प्रेस के संस्थापक और संचालक तथा हिंदी के विज्ञ लेखक होने के नाते हिंदी संसार के ख्यातनामा व्यक्ति थे। भारतेंदु से उनकी खूब पटती थी और उन्हीं के आग्रह पर हरिश्चंद्र-ग्रंथावली का प्रकाशन पटने से हुआ था। वे बलिया जिले के निवासी थे और उन्होंने ही भारतेंदु को ददरी मेले के अवसर पर बलिया आने को बाध्य किया था। यह मेला बलिया में कार्तिकी पूर्णिमा को लगता है और इसे देखने दूर दूर से लोग आते हैं।

इसी अवसर पर भारतेंदु बलिया आए। इनकी कीर्ति तो यहाँ पहले ही से पहुँच चुकी थी, जनता देखने के लिये टूट पड़ी। मेले का सुयोग, गुणग्राही विद्वज्जनों का सुलभ समागम। फलतः 'सत्यहरिश्चंद्र' के अभिनय की योजना हुई। भारतेंदु जी स्वयं राजा हरिश्चंद्र की भूमिका लेकर रंगमंच पर आए। यह अभिनय बड़ा ही सफल हुआ। भारतेंदु के मधुर सवैयों की धूम तो सहृदय-समाज में थी ही, परंतु उनका अभिनेता के रूप में अवतार एक नई बात थी। वे अभिनय-कला में पूर्ण पंडित थे। इस अभिनय के अवसर पर बलिया के अंग्रेज जिलाधीश श्री राबर्ट्स भी अपनी पत्नी के साथ उपस्थित थे। अंतिम दृश्य में श्मशान पर कर उगाहने के समय भारतेंदु का अभिनय इतना सुंदर और करुणोत्पादक हुआ कि मेम साहिबा विचलित हो उठीं। करुणा की धार धैर्य तथा शिष्टाचार के बाँध को तोड़कर आँसुओं के रूप में बह चली। राबर्ट्स भी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने लंदन में अनेक अभिनय देखे थे, किंतु उन्होंने भारतेंदु को बधाई देते हुए कहा कि ऐसा सुंदर अभिनय देखने का सौभाग्य हमें कभी नहीं प्राप्त हुआ था। आज भी बलिया के अनेक वृद्ध साहित्यिकों से गद्गद कंठ से इस अभिनय की प्रशंसा मैंने सुनी है।

अपने जीवन के अंतिम दिनों में भारतेंदु जी क्षय रोग से पीड़ित थे। उस परम भागवत रसिक कवि की वृत्ति उन दिनों पूर्णतः भगवान् में लीन हो गई थी। वे पद्माकर के इस कवित्त का करुण स्वर से पाठ करते और आँसुओं की धारा बहाते—

ब्याधहूँ ते बेहद असाध हू अजामिल लौं
　　ग्राह ते गुनाही कैसे तिन में गिनाओगे।
स्योरी हौं न सूद्र नहिं केवट कहूँ को त्यों न
　　गौतमी तिया हौं जापै पग धरि आओगे।
राम सों कहत पद्माकर पुकारि तुम
　　मेरे महापापन को पारहू न पाओगे।
झूठे ही कलंक सुनि सीता जैसो सती तजी
　　हौं तो साँचोहूँ कलंकी कैसे अपनाओगे॥

रोग बढ़ गया था। हितचिंतकों का दल उन्हें देखने आता और सशंक घर लौट जाता। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' भारतेंदु के शिक्षक रह चुके थे, अतः उनके प्रति इनकी बड़ी श्रद्धा थी। अंतिम समय में हिंदी के प्रश्न को लेकर दोनों में बहुत मतभेद हो गया था। परंतु असाध्य बीमारी का समाचार पाकर राजा साहब भारतेंदु के यहाँ पधारे। रोगशय्या पर पड़े पड़े हरिश्चंद्र ने उनके प्रति अपना आदर प्रकट किया। पुराना वात्सल्य उमड़ पड़ा। राजा साहब ने प्रेम के साथ कष्ट का हाल पूछा तो भारतेंदु ने धीमे स्वर में कहा—'बड़ी प्यास लगी है।' राजा साहब चाँदी की प्याली में पानी भरकर देने चले, परंतु भारतेंदु ने कहा—'पानी नहीं, घनानंद का सवैया चाहिए।' राजासाहब ने घनानंद के प्रसिद्ध सवैए का यह अंतिम चरण सुना दिया—

तुम कौन सो पाटी पढ़े हौ लला मन लेत हौ देत छटाँक नहीं।

सुनते हैं इसके बाद भारतेंदु ने अपने नेत्र सदा के लिये बंद कर लिए और अपनी इस भविष्यवाणी को सत्य कर दिया—

कहैंगे सबैही नैन नीर भरि भरि पाछे
　　प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।

आज भारतेंदु जन्मशती महोत्सव के अवसर पर हम हिंदी के उस वीर तपस्वी नेता की महान् आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

—श्री बलदेव उपाध्याय

निवेदन

आज से ठीक सौ वर्ष पहले, इसी तिथि—ऋषिपंचमी को, इसी काशी नगरी में, अपनी सौम्य कीर्ति-ज्योत्स्ना से हिंदी साहित्य का पथ आलोकित करने के लिये 'भारतेंदु' का उदय हुआ था। गगन का इंदु अपनी ज्योत्स्ना अपने अस्तित्व के साथ ही जुड़ी हुई रख सकता है, अपने साथ ही ले जाता है। पर 'भारतेंदु' की कीर्ति-चंद्रिका आज भी है, वह अमर है। यदि भारतेंदु ने पूर्ण आयु पाई होती तो आज हमारे इस शती-महोत्सव के वे साक्षात देवता होते। सात वर्ष की अवस्था में उन्होंने जिस स्वतंत्रता-यज्ञ की प्रथम आहुति देखी थी और जिसमें उन्होंने स्वयं भी अपना तन, मन, धन होम कर दिया था, आज उसकी पूर्णाहुति ही न देख पाते, इष्ट-प्राप्ति की तीसरी वर्षगांठ भी मना चुके होते। परंतु यदि भारतेंदु की भाँति एक-एक कर शतशः विभूतियों ने स्वयं अपनी आहुति उस यज्ञ में न दी होती तो आज हम उसकी सफलता देख पाते या नहीं, कौन जानता है? भारतेंदु का जीवन अल्प था, पर सार्थक था, सफल था। एक कवि की उक्ति है—

> बिकस्यो कमल प्रभात ही, साँझ गयो मुरझाय।
> हँस्यो हँसायो जगत को, जीवन धन्य कहाय॥
> ठाढ़ो साह बलूत तरु, जियो बरिस सत तीन।
> लह्यो कौन जस जगत में, रह्यो ठूँठ लौं दीन॥

भारतेंदु का जीवन उस हँसने-हँसानेवाले कमल का सा था, दीर्घायु बलूत-तरु का सा नहीं। भारतेंदु के साथ उत्पन्न कितने ही शताधिक आयुवाले व्यक्ति आज भी जीवित हैं, पर उन्हें कै व्यक्ति जानते हैं? और भारतेंदु ने उस अल्प जीवन में ही अपनी सौम्य प्रतिभा की कितनी ज्योत्स्ना बिखेर दी—जिससे हम आज भी आह्लादित हो रहे हैं!

भारतेंदु ने हिंदी को क्या कुछ दिया, यह बहुत कुछ आँका जा चुका है, आँका जायगा भी। पर वे केवल हिंदी के ही नहीं, संपूर्ण भारत के थे, इस ओर ध्यान कुछ कम दिया गया है। वे वस्तुतः संपूर्ण भारत की उन्नति चाहते थे,

हिंदी उसका साधन थी। स्वयं परम वैष्णव होते हुए वे केवल अन्य हिंदू संप्रदायों को ही उदार भाव से नहीं देखते थे, वरन् मुसलमान आदि अन्य धर्मावलंबी भारतीयों के प्रति भी उनके वैसे ही भाव थे। वे महलों और राजदरबारों के जीवन का पूरा अनुभव रखते हुए, भारत की दुखी-दरिद्र जनता के साथ थे। उन्होंने अनेक भारतीय भाषाएँ सीखीं ही नहीं, उनमें रचनाएँ भी कीं; और इससे अन्य-प्रांत-निवासियों के भी वे अति निकट पहुँच गए। उनकी भाषा-नीति और हिंदी-शैली का पूरा पूरा अनुसरण यदि हम कर पाते तो स्यात् हिंदी को आज इतना विरोध न झेलना पड़ता।

हिंदी और भारत के प्रति उस महापुरुष का कितना उपकार है, उसका मूल्य उसके अधिकाधिक अध्ययन से स्पष्टतर होता जायगा। उसके उपकारों का स्मरण कर यदि आज भी हम उसके दिखाए मार्ग पर चलने का सत्संकल्प करें तो हिंदी और भारत दोनों का कल्याण अवश्य होगा।

इस शुभाशा के साथ इस महोत्सव के अवसर पर हम उस महापुरुष के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिये इस अंक के रूप में पुष्पांजलि अर्पित करते हैं।

अत्यल्प समय में अवसर के अनुरूप इस अंक को बनाने का यथासंभव प्रयास, जैसा कुछ हो सका, पाठकों के सामने है। इस अंक में भारतेंदु के प्रेमी विद्वान् लेखकों ने तो समय पर लेख भेजने की कृपा की ही, भारतेंदु जी के भ्रातुष्पौत्र श्री लक्ष्मीचंद चौधरी ने इस अंक के प्रथम पृष्ठ पर देने के लिये भारतेंदु के चित्र का फोटो लेने की सुविधा दी और भारतेंदु के दौहित्र श्री व्रजरत्नदास ने लेख के अतिरिक्त चित्र भी दिए। इसके लिये हम इन सज्जनों के आभारी हैं।

—संपादक

मुद्रक—वासुदेव, आर्यभूषण प्रेस, ब्रह्माघाट, काशी।